गगनाञ्चल

वर्ष 25 अंक 3 जुलाई–सितम्बर 2002
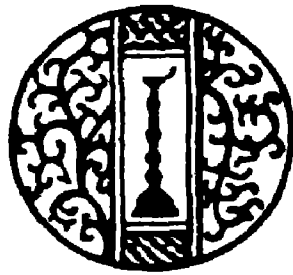
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

शुल्क दरें

वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु० 100	रु० 250
US$ 40	US$ 100
£ 16	£ 40

उपरोक्त शुल्क दरों का अग्रिम भुगतान "भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली" को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीआर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

प्रकाशक
सूर्यकान्ति त्रिपाठी
महानिदेशक,
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्,
नई दिल्ली

संपादक
कन्हैयालाल नन्दन

ISSN : 0971-1430

मुद्रक : सीता फाईन आर्ट्स प्रा० लि०,
ए-22, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया,
फेज़-2, दिल्ली-110028
दूरभाष : 25895100, 25896999
ई-मेल : *printer@vsnl.com*

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त सगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त छः पत्रिकाएं प्रकाशित करती है, जिसमें चार त्रैमासिक पत्रिकाएं एवं दो छमाही पत्रिकाएं हैं। हिंदी (*गगनाञ्चल*), अंग्रेज़ी (*इंडियन होराइजन्स* और अफ्रीका क्वार्टरली), अरबी (*सक़ाफ़त-उल-हिंद*), त्रैमासिक पात्रिकाएं हैं और स्पेनिश (पपलेस दे *ला इंडिया*), फ्रेंच (*रेकौव अवेक लैंद*) छमाही पात्रिकाएं हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक '*गगनाञ्चल*' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए:

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आज़ाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-110002

प्रकाशक की ओर से

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और हमारा समय

परंपरा और तारीख–इतिहास के लिए जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही महत्व उन विभूतियों का है जिन्होंने हमारे देश की आजादी के लिए अनवरत संघर्ष किया था और अंत में सदियों की गुलामी से हमें मुक्ति मिली थी। यह मुक्ति बाहर से ही नहीं, बल्कि हमारे मन के भीतर भी मुक्ति थी। उन संघर्षशील विभूतियों का इतिहास पुराना भले ही पड़ गया हो किन्तु हमारा समय उन्हें कभी भूल नहीं पाएगा क्योंकि समय हमारे "किए" का साक्षी होता है।

यह सर्वविदित है कि मौलाना आज़ाद साहब आई.सी.सी.आर. के संस्थापक अध्यक्ष थे और परंपरा और तारीख के अनुसार 11 नवम्बर, 2002 के दिन हमने मौलाना आज़ाद की 114 वीं वर्षगांठ मनायी और उन्हें सादर याद किया। यह बात महत्व की तो है ही, पर जो हमारे समय का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है, वह है – आज़ाद साहब की प्रासंगिकता की तलाश। इस संदर्भ में सबसे पहली बात जो मेरे मन में है, वह यह है कि आज जिस पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, भेदभाव, धर्म, सांप्रदायिकता के खिलाफ आन्दोलन करने की जरूरत महसूस की जाती है उसके वैचारिक आन्दोलन के वे सही और सच्चे उत्तराधिकारी थे। मौलाना आज़ाद ऐसे कुछ विरले व्यक्तियों में से एक थे जिन्हें भारतीय दर्शन की जानकारी तथा संसार के विभिन्न धर्मों का व्यापक ज्ञान था। जब हम मौलाना आज़ाद को याद करते हैं तब लगता है कि वे विचार और समय की सीमाओं को लांघ गये थे। उन्होंने अतीत से जो कुछ ग्रहण किया उसका प्रतिफल भविष्य के संदेश के रूप में दिया। उन्होंने कहा, "मुझे भारतीय होने का गर्व है मैं भारत की अविभाज्य राष्ट्रीय एकता का अंग हूँ और इससे कभी अलग नहीं हो सकता।"

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद हमारी आज़ादी से पूर्व और उसके बाद के भारतीय राष्ट्रीय नेताओं में असाधारण रूप से अद्वितीय रहे हैं। आज़ाद निश्चित विचार वाले कुछ

प्रमुख नेताओं में से एक थे जिन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में सरल, सहज और पारदर्शी होने का संदेश दिया। उन्होंने शिक्षा, राजनीति के क्षेत्र में जितने अवदान दिए उसका मूल्यांकन चाहे जिस रूप में किया जाए, लेकिन यह एक सच्चाई है कि आज के समय, समाज और हमारी अपेक्षाओं के मद्देनजर मौलाना साहब की प्रासंगिकता निश्चित रूप से बनी रहेगी।

सूर्यकांति त्रिपाठी

सूर्यकांति त्रिपाठी

(महानिदेशक)

सम्पादक की ओर से

धर्म को अनेक परिभाषाओं में बांधने का प्रयत्न किया गया है परंतु अब भी धर्म पर बात करते हुए लगता है जैसे कुछ छूट रहा है। भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में अनेक धर्मों का पालन और उस प्रक्रिया में अनेक उलझे सवालों से जूझना हमारे मनीषियों का प्रिय विषय रहा है। इस संदर्भ में हम आज भी उस विराम की खोज में हैं जहां हमें हमारे सभी सवालों के हल मिल सकें। चिंतक अरविन्द कुमार ने अपने लेख सनातन धर्म में कुछ ऐसा ही प्रयत्न किया है। उनके द्वारा उठाए गए अनेक सवाल और विचार–बिंदु हमें सोचने को विवश करते हैं।
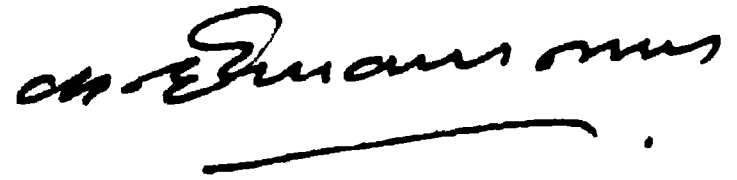
धर्म के तीन पक्षों की चर्चा करते हुए वह लिखते हैं, एक का संबंध आत्मा और परमात्मा की कल्पना और इन दोनों के परस्पर संबंध से है। यही किसी भी धर्म का मूल तत्व होता है। जो लोग आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व से इन्कार करते हैं, वे अपने को नास्तिक या अधार्मिक मानते हैं। हम चाहें तो आस्तिकता के साथ–साथ नास्तिकता को भी एक धर्म कह सकते हैं। आस्तिकों की आस्था और नास्तिकों की अनास्था को आज किसी भी वैज्ञानिक तरीके से साबित या सिद्ध या प्रमाणित या सत्यापित नहीं किया जा सकता। अतः ये दोनों मान्यता मात्र ही हैं और इनमें दृढ़ विश्वास एक तरह से धर्म ही है।

"दूसरे पहलू का संबंध रीति रिवाज और प्रथाओं से और नैतिकता से है। ये एक तरह के कांड होते हैं–जीवन के परस्पर आचरण के कोड। इन्हें धर्म का मुख्य अंग नहीं माना जा सकता। इनकी उत्पत्ति देश, समाज और काल के आधार पर होती है।"

अरविन्द कुमार व्यापक चर्चा के बाद धर्म के तीसरे पहलू, सामाजिक व्यवस्था की बात करते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने धर्म को भिन्न जातियों को लड़ाने आदि के प्रसंग की चर्चा की है। मेरा मानना है कि धर्म बहुत ही संवेदनशील प्रसंग है, जिसकी चर्चा करते हुए हमें बहुत सावधान होने की आवश्यकता है।

गगनाञ्चल का प्रयत्न रहा है कि वह निरन्तर ज्वलंत एवं सामयिक मुद्दों से अपने पाठकों का साक्षात्कार करवाता रहे। पिछले दिनों अपने विदेश प्रवास के दौरान मैंने पाया कि हिंदी भाषा और साहित्य को जो सम्मान विदेशी धरती पर मिल रहा है, उसकी हमारे यहां

कमी है। भारतीय संस्कृति, हिन्दी–भाषा और साहित्य के प्रचार–प्रसार में जुड़ी अनेक संस्थाएं अपने अनथक प्रयासों से अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। इस दिशा में भारतीय प्रवासियों द्वारा किए गए महत्वपूर्ण योगदान से भारतीय समाज कम परिचित हो पाता है। भारत सरकार द्वारा जनवरी 2003 में प्रवासी भारतीय दिवस का आयोजन और इस अवसर पर अनेक महत्वपूर्ण प्रवासी भारतीयों का सम्मान रेखांकित करने योग्य है। ऐसे में 'गगनाञ्चल' अपनी भूमिका को ध्यान में रखते हुए अगले अंक को प्रवासी भारतीय स्थितियों पर केंद्रित कर रहा है। भारतवंशियों के इस प्रथम महासम्मेलन के अवसर पर उस विशेषांक की भूमिका अपने आप महत्वपूर्ण हो जाती है।

कन्हैयालाल नन्दन
(संपादक)

अनुक्रम

सनातन धर्म

● अरविंद कुमार

कोई शक्ति किसी भी धर्म के सभी अनुयायियों को एक ही कोड के अनुपालन के लिए विवश नहीं कर सकती है, और यह भी देखा गया है कि एक ही देश काल में रहने वाले, लेकिन भिन्न धर्मों को मानने वाले, लोग कई बार समान नैतिकता का, आचार व्यवहार का, खानपान का पालन करते हैं जो मनु का कोड था, कई अंशों में उसके जैसे कोड भारत की उत्तर पश्चिम सीमाओं के पार भी पाए जाते हैं।

भारतीय समाज में विचार धाराओं के उस विशाल समूह की, उस जीवन शैली की, जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं, कोई एक सहज सर्वसम्मत परिभाषा नहीं की जा सकती, इस के बारे में जो एक बात आसानी से, निर्विवाद रूप से, कही जा सकती है, वह यह है कि इस नाम के नीचे अनगिनत छाप/तिलक/अखाड़ों के वे सब मतमांतर परस्पर स्वीकार भाव से रहते हैं, ऊपरी तौर पर जो एक दूसरे के विरोधी जान पड़ते हैं, और कई बार जो एक दूसरे को बुरा भला कहते भी दिखाई देते हैं।

ऊपरी तौर पर दिखाई देने वाला यह विरोधाभास इसलिए है कि सनातन जीवन शैली विचारों की स्वतंत्रता का अन्यतम उदाहरण है। वह यह बात स्वीकार कर के चलती है कि मानव मन को किसी अलंघ्य वैचारिक चहारदीवारी में घोंट कर नहीं रखा जा सकता, इसी लिए वह मानव मात्र के सामने स्वतंत्र चिंतन का अनंत, असीम और उन्मुक्त आकाश रखती है और एक अनोखी उदारता, इसी लिए सनातन धर्म भारत की आत्मा बन गया है और पूरे संसार में भारत की पहचान।

आज वह संसार की सभी विचार धाराओं को, उन को भी जो उस का विरोध करती हैं, चाहे कोई ऐसा हिंदू सुधारवादी आंदोलन हो जिस का आधार ही सनातन धर्म का विरोध

हो, या कोई हिंदू–इतर धर्म हो, या नास्तिक विज्ञानवादी अधर्म, सभी को सहज समभाव से स्वीकार करती है। इस समभाव को आज की भारतीय राजनीतिक और सामाजिक शब्दावली में *धर्म निरपेक्षता* कहा जाता है।

धर्मों के तीन पक्ष, तीन पहलू, देखने में आते हैं।

एक का संबंध आत्मा और परमात्मा की परिकल्पना से है और इन दोनों के परस्पर संबंध से है। यही किसी भी धर्म का मूल तत्त्व होता है। जो लोग आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व से इन्कार करते हैं, वे अपने को नास्तिक या अधार्मिक मानते हैं। हम चाहें तो आस्तिकता के साथ–साथ नास्तिकता को भी एक *धर्म* कह सकते हैं। आस्तिकों की आस्था और नास्तिकों की अनास्था की सत्यता को आज किसी भी वैज्ञानिक तरीक़े से साबित या सिद्ध या प्रमाणित या सत्यापित नहीं किया जा सकता। अतः ये दोनों मान्यता मात्र ही हैं और इन में दृढ़ विश्वास एक तरह से धर्म ही हैं।

दूसरे पहलू का संबंध रीति रिवाज और प्रथाओं से और नैतिकता से है। ये एक तरह के कोड होते हैं—जीवन के, परस्पर आचरण के, कोड। इन्हें धर्म का मुख्य अंग नहीं माना जा सकता। इन की उत्पत्ति देश, समाज और काल के आधार पर होती है। देश काल में परिवर्तन होने पर ये भी बदल जाते हैं, जैसे संस्कार विधियाँ या कर्म कांड जिन का पालन आम तौर पर धर्म मान कर ही किया जाता है।

सनातनियों के सोलह संस्कारों को ही लें। क्या आज के सनातनी इन सभी सोलह संस्कारों का पालन करते हैं? बहुत से संस्कारों के तो नाम तक आज लोग नहीं जानते। देखें तो कश्मीर से कन्या कुमारी तक, पूर्व से पश्चिम तक, हर सौ दो सौ कोस पर इन का रूप भिन्न हो जाता है।

कोई शक्ति किसी भी धर्म के सभी अनुयायियों को एक ही कोड के अनुपालन के लिए विवश नहीं कर सकती, और यह भी देखा गया है कि एक ही देश काल में रहने वाले, लेकिन भिन्न धर्मों को मानने वाले, लोग कई बार समान नैतिकता का, आचार व्यवहार का, खानपान का पालन करते हैं, जो मनु का कोड था, कई अंशों में उस के जैसे ही कोड भारत की उत्तर पश्चिम सीमाओं के पार भी पाए जाते हैं। हमने देखा है कि इतिहास में और स्वयं बीसवीं सदी में सनातन धर्मियों ने अपने जीवन के कोडों को कई बार बदला है, जैसे विवाह संबंधी कोड।

तीसरे पहलू का संबंध समाज व्यवस्था से है। वर्ण व्यवस्था ऐसी ही एक व्यवस्था है। इस का रूप कभी एक सा नहीं रहा है। हम जानते हैं कि व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाइयाँ हर धर्म और समाज में पूरी तीव्रता से लड़ी जाती रही हैं। सनातन धर्म के इतिहास में वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध अनेक विद्रोह हुए हैं। ऐसे अधिकांश विद्रोहों का नेतृत्व पूज्य साधु संतों ने किया है। स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में ऊँच–नीच पर तीखा प्रहार किया गया है।

भिन्न जातियों को लड़ाने के लिए भी धर्म को काम में लाया जाता रहा है।

जब इस संदर्भ में धर्म की बात की जाती है, तो धर्म वह धर्म नहीं रह जाता जिस का व्यापक अर्थ आत्मा परमात्मा के संबंधों से या कर्तव्य भावना से या व्यक्ति को धारण करने वाली शक्ति से होता है, या रीति रिवाज से होता है। तब वह एक पंथ, मत या चर्च विशेष के अवलंबियों के समूह का द्योतक बन जाता है, इस सीमित अर्थ में और इस संकुचनकारी भावना के साथ उसे जाति, और देश का भी, प्रतीक मान कर जन समूहों के हितों के परस्पर टकराव निपटाने के उपकरण के तौर पर भी धर्म का इस्तेमाल किया जाता रहा है।

आज स्वयं सनातन धर्म के देश में ऐसे चरमवादी तत्त्व भी हैं जो धर्म और समाज और परंपरा की रक्षा के नाम पर विचारों की स्वतंत्रता को, विविधता को, उस सब को मिटाने पर तुले हैं जो इस की सनातन शक्ति है, सनातन आधार है। यदि इस की रक्षा के नाम यह सब मिट गया, तो यह इस महान विचार धारा की हत्या होगी अपने स्वनियोजित रक्षकों के हाथों।

'सनातन धर्म' शब्द में 'सनातन' का मूल क्या है? यह कहना आसान नहीं है। 'सन्' धातु के अर्थ हैं—'प्रेम करना, पसंद करना; पूजा करना, सम्मान करना; प्राप्त करना, अधिगत करना; अनुग्रह के साथ प्राप्त करना; उपहार सहित सम्मान प्रदान करना, वितरण करना'। ये सभी अर्थ सनातन धर्म की मूल भावना के निकटतम मालूम पड़ते हैं। इस दृष्टि से यह ब्रह्मा के मानस पुत्रों (सनक, सनंदन, सनत्, सनातन) द्वारा प्रभावित धर्म भी हो सकता है। इन में से सनातन को 'नारद का गुरु, *नारद पुराण* वाचक, भगवत्तत्व उपदेशक, शिशु, शिशुरूप, *श्री हरि शरणं* मंत्रोच्चारक, सांख्यायन को श्रीमद्‌भागवत शिक्षक' कहा गया है।

यदि 'सनातन' के बहुप्रचलित शाब्दिक अर्थ को ही सनातन धर्म का मूल मानें, तो *सनत्, सना* और *सनातन* शब्दों के अर्थ हैं—*'सदा, हमेशा, नित्य, निरंतर, शाश्वत, स्थिर; दृढ़, स्थिर, निश्चित; पूर्वकालीन, पुराना'*।

इन में से किसी भी शब्द का अर्थ पुरातन पंथी या रूढ़िवादी नहीं है, फिर भी सनातन धर्म के साथ जोड़ दी गई है यह रूढ़ मान्यता कि यह परिवर्तन का, परिष्कार का विरोधी है, इस मान्यता के पीछे आधुनिक राजनीति का एक विदेशी शब्द भी है—*'स्टेटस को'*, यथास्थिति . . . जिस के साथ *इज़्म* या *वाद* या *पंथ* जोड़ देने से परिवर्तन का विरोध अंतर्निहित हो जाता है का यह विरोध राजनीति में व्यवस्था में परिवर्तन की माँग के विरोध से जुड़ जाता है।

यही कारण है कि खुले मस्तिष्क वाले सनातन धर्म को पश्चिम के प्रभाव में आज हमारे देश में बंद दिमाग़ का, रूढ़िवाद का, पुरातन मोह का, प्रतिक्रियावाद का प्रतीक मान लिया गया है।

वास्तव में ऐसा है नहीं, इसकी *सनातनता* इस बात में निहित है कि यह हमेशा परिवर्तनशील और परिष्कारशील रहा है।

यह सही है कि उन्नीसवीं शताब्दी में समाज व्यवस्था और रीति रिवाज में परिवर्तन के विरोधियों ने, धर्म के तथाकथित झंडाबरदारों ने, कठमुल्लाओं ने, लकीर के फ़कीरों ने, धर्म की रक्षा के नाम पर सती प्रथा जैसी कुरीतियों के उन्मूलन का विरोध किया था। कुछ पोंगापंथियों ने धर्म को केवल छुआछूत तक ही सीमित कर दिया था, चाहे वह छुआछूत रसोईघर में हो, या वर्ण व्यवस्था में हो। वे उस में छोटे–छोटे परिवर्तन तक का विरोध भी करते रहे थे।

लेकिन हम देखते हैं कि सामाजिक अन्याय और रहन सहन के पिछड़ेपन का विरोध तथाकथित सुधारवादियों से भी बढ़ चढ़ कर उन लोगों ने किया था जो अपने आप को सनातनी मानते थे (जैसे, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी), उन जैसों के किए से ही सनातन धर्म अपने को सनातन रख पाया है।

सनातन धर्म के इतिहास में ऐसे लोग हर चार पाँच दशक बाद परिवर्तन का संदेश ले कर अवतरित होते रहे हैं। *गीता* में दिए गए वचन '*संभवामि युगे युगे*' का एक अर्थ यह भी है कि जब भी धर्म को और समाज की जीवन शैली को रूढ़ और कुत्सित कर दिया जाएगा तो...

जो भी हो उन्नीसवीं शताब्दी में सुधार विरोध की कुछ घटनाओं ने हमारे समाज के अग्रगामी दृष्टिकोण वाले बुद्धिजीवियों को सनातन धर्म से दूर कर दिया। अपने को अत्याधुनिक, '*मौड*', या बुद्धिवादी मानने का दंभपूर्ण दावा करने वाले तथाकथित बुद्धिजीवी अपने आप के उस से कोसों दूर होने की घोषणा करते रहते हैं।

ऐसे लोग मुख्यतः वे हैं जो आधुनिक पश्चिमी सभ्यता से या पश्चिम के राजनीतिक वादों से प्रभावित हैं, या तो वे सनातन जीवन शैली को कोई बहुत ही घटिया चीज़ समझते हैं और घृणास्पद नज़रों से देखते हैं, या फिर अपने आप को उस से बिल्कुल अलग असंपृक्त रखने का दिखावा करते हैं। हद से हद वे उसे अपने निकटतम परिवार जनों में एक अनिवार्य दक़ियानूसीपन के तौर पर स्वीकार करते हैं, जिसे सहना वे अपनी मजबूरी भर मानते हैं।

हाँ, यह एक अलग बात है कि इस बीच सनातन समाज अपने आप को पूरी तरह बदल चुका है। वह जन मानस में एक बार फिर लोकप्रिय होने लगा है। बस, हमारे बुद्धिजीवी उस में आए सकारात्मक परिवर्तन को आँक नहीं पाए हैं, यह भी एक कारण है कि हमारे बुद्धिजीवी समाज की मुख्यधारा से कट से गए हैं।

एक मेमना जो डंक मारता हो

● नरेन्द्र मोहन

आज के लेखक के सामने दो विकल्प है, विद्रोह या समर्पण। बेहतर–इंसानियत के नाते सत्ता से विद्रोह एकमात्र रास्ता है।

1989

6 जनवरी : सतवंत सिंह और केसर सिंह को यहाँ तिहाड़ जेल में फाँसी दे दी गयी।

16 फरवरी : (शांतिनिकेतन) कलकत्ता में कवि–सम्मेलन में भाग लेता हुआ यहाँ आया हूँ। गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के उस कक्ष को देखता हूँ जहाँ वे लिखते–पढ़ते थे। रोमांचित प्रेरित–सा महसूस करता हूँ। याद करता हूँ 'वेयर दे हेड इज़ हेल्ड हाई' और प्रतिक्रिया में उठती है यह पंक्ति : **'किस मस्तक को ऊँचा उठाए रखने की बात करते हो महाकवि/यहाँ तो जब से होश संभाला है। मस्तकों को झुकते और लुढ़कते ही पाया है।'**

01 मार्च : (दिल्ली) विनय के घर बंग्लो रोड। सत्येन्द्र तनेजा और कुलदीप सलिल आ गये। सलिल ने कुछ अच्छी ग़जलें सुनाईं। तनेजा इधर के नाटकों पर चर्चा करने लगे, ज्यादातर उन नाटकों की जिन की प्रस्तुतियाँ उन्होंने देखी हैं। सवाल यह है कि प्रस्तुति और आलेख को एक साथ रखकर कैसे देखें? जब वे एक दूसरे में जुड़े हुए हैं तो उनके कॉमन आधारों की खोज क्यों नहीं की जा सकती?

10 अप्रैल : इन दिनों 'कलन्दर' नाटक लिखने में जुटा हुआ हूँ। ज्यादातर सामग्री सूफी ग्रंथों में है और वे सूफी नज़रियें से दी गयी है, कलन्दरों के नज़रिये से नहीं। इस से बड़ी दिक्कतें पेश आ रही हैं। मैं करनाल गया। मदन गुलाटी से बात की तो वह मुझे पानीपत एक कलन्दर की ख़ानकाह पर ले गया। जो लोग वहां हैं उन्हें कलन्दरों के बारे में

कुछ भी इल्म नही, सो क्या हासिल होता। सोचा क्यों न दिल्ली में निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह पर जाकर देखा जाए, शायद वहाँ रोशनी मिले। सो, अभी कल गुरचरण सिंह को साथ लेकर वहां चला गया। वहां लोगों से मिले और बातचीत में कई नये तथ्य सामने आए हालांकि हर सूचना में सूफी ऐंगल हावी है। सूफी और कलन्दर के बीच का लिंक टूटा हुआ है और इसके प्रति लापरवाही भी नज़र आई। कलन्दर को कलन्दर के रूप में देखने वाली दृष्टि सिरे से गायब है। ऐसी सूचनाएँ नहीं मिली जो नाटक में काम आती। हां, हमें यह सकून था कि वहां गये, उस माहौल में कुछ वक्त रहे जहाँ कलन्दरों की आवा–जाही थी। सोचना हूँ कुछ चमकते हुए ज़र्रे हमारी रूह में शायद चिपके रह गये हों।

11 मई : (मुम्बई) भूषण सूरी इन दिनों यहीं पर हैं–ऋषिकेश मुखर्जी से 'उजारे की ओर' पर बातचीत को अंतिम रूप देने के लिए। कथा के कुछ संवेदनशील हिस्सों पर ऋषि दा मुझ से भी बात करना चाहते हैं। सो, सूरी के पास सी साईड हॉटेल, नियर हॉली डे इन, जुहू आ गया हूँ। 10 बजे सलमा आ गई। 15 को वापसी के आरक्षण के बारे में उससे बात की। सुमन, सुधा द्वारा भेजी गई चीज़ें उसे दे दीं। वह कल साढ़े नौ बजे आएगी मुझे लेकर ट्रेन से सांताक्रुज तक छोड़ने के लिए। शाम को मैं और सूरी ऋषि दा के निवास पर। वे चाहते हैं कि मैं धारावाहिक की पहली कड़ी उन्हें जल्द से जल्द दे दूँ। मैं दो–तीन दिन में पहली कड़ी की पटकथा उन्हें लिखकर देने का वायदा करता हूँ।

16 जून : (दिल्ली) परसों शाम अनुराधा घर में ही फर्श पर फिसलकर गिर गई। टाँग पर जांघ में बुरी तरह से फ्रेक्चर। तत्काल एक्स–रे के लिए नर्सिंग होम, विकास पुरी ले गए। वहां ढंग की कोई व्यवस्था नहीं है। आज सुबह तीर्थ राम अस्पताल ले आए हैं। कमरा नम्बर 64, डाक्टर ने देखा है। बायीं जांघ की लम्बी हड्डी टूट गई है। ऑपरेशन होगा और 16 इंच लंबी स्टील रॉड पड़ेगी। रॉड का इन्तज़ाम हमें ही करना है।

ऑपरेशन किया। 11.45 पर अनुराधा को कमरे में लाया गया। ठीक होने में वक्त लगेगा। थोड़े किये हार मानने वाली नहीं है। घर के सभी लोग जुटे हुए हैं। देखने के लिए दोस्त–रिश्तेदार आते रहते हैं।

27 अक्तूबर : आज के लेखक के सामने दो ही विकल्प हैं विद्रोह या समर्पण। बेहतर–इंसानियत के नाते सत्ता से विद्रोह एकमात्र रास्ता है। दूजा कोई विकल्प नहीं है। लेखक को यह देखना ही होगा कि वह सत्ता के मुकाबले में खुद को और अपनी रचना को कैसे खड़ा करता है? रचना उसके लिए 'स्लोगन' या पोस्टर नहीं है, एक तरह की प्रतिबद्धता है जो कृति के भीतरी संसार में, उसकी कथ्य–चेतना और कल्पना में, भाषा और शैली में रसी–बसी होती है! इसलिए रचनात्मक भाषा को निरन्तर बदलते रहना होगा।

किसी भी लेखक से आज यह पूछा जाना ज़रूरी है कि वह वैचारिक दृष्टि से कहां खड़ा है और यह भी कि वह 'विचार' या 'दृष्टि' को किस अर्थ में ग्रहण कर रहा है? इस सवाल के जवाब कई तरह के हो सकते हैं। विचार और दृष्टि कोई बंधी हुई चीज नहीं है। इनमें

एक तरह की सक्रियता रहती है। दर्शन और विचारधाराओं में इन के मूल उत्स की तलाश की जा सकती है पर रचना का विचार परिवेश से खुराक पाने की वजह से गत्यात्मक होता है। अनुभव को जैसे हम परिवेश में से ग्रहण करते हैं, उसी तरह विचारों को भी परिस्थिति से टकराते हुए पाते हैं। ऐसे अनुभव और विचार ही रचना के काम के होते हैं। तभी वे संप्रेषित होते हैं।

15 नवम्बर : जवानी के दिनों में डार्विन को कविता पढ़ने और संगीत सुनने का शौक था। अपने दादा की तरह वे दार्शनिक और कवि तो नहीं थे, तो भी कभी–कभार जो कविताएँ उन्होंने लिखीं। उनका नोटिस लिया गया, लेकिन जैसे–जैसे वे वैज्ञानिक आविष्कारों में डूबते गये, कविता और संगीत उन की जिन्दगी से बाहर होते गये। जिन्दगी के आखिरी पड़ाव में जब वे रोग की गिरफ़्त में थे, उन्हें इसका अफसोस हुआ कि कविता और संगीत उनसे क्यों छूटता गया। इस का ज़िक्र उन्होंने अपने आत्मकथात्मक नोट्स और पत्रों में किया भी है –'जीवन के अंतिम वर्षों में जब मुझे यह एहसास हुआ कि मैं कविता पढ़ने के अयोग्य हो गया हूँ तो मुझे अनुभव हुआ कि विज्ञान में मेरी जो भी उपलब्धि रही हो, मेरे भीतर कुछ मर गया है।' कविता पढ़ने के अयोग्य हो जाना डार्विन के लिए अपने भीतर कुछ मर जाने के एहसास के बराबर था। एक कविता हमें निजी स्तर पर ही संवेदनशील नहीं बनाती, दूसरों के प्रति हमारी संवेदनशीलता को भी बढ़ाती है। इसमें कमी आना ही आंशिक मौत है, जिसकी तरफ, अपनी तमाम उपलब्धियों के बावजूद, डार्विन ने संकेत किया है।

15 दिसम्बर : **'कहै कबीर सुनो भाई साधो'** नाटक के पहले भाग का प्रसारण दूरदर्शन पर 5 दिसम्बर को हुआ तो इसकी खासी चर्चा रही। बाहर से कई मित्रों के फोन आए, पत्र भी, जिनमें प्रसारण–प्रदर्शन को लेकर कई तरह की टिप्पणियां थीं। नाटक के दूसरे भाग का प्रसारण 12 दिसम्बर को होना था लेकिन वह न हुआ। पता चला कि इसके प्रसारण पर रोक लगाने के लिए कबीर–पंथियों ने दूरदर्शन के सामने घरना दिया और बड़ा हो–हल्ला मचाया और दूरदर्शन ने उन के आगे घुटने टेक दिए और प्रदर्शन रोक दिया। बड़े क्षोभ से भरा रहा मैं। ऐसा कैसे हो सकता है कि वे लोग जो कबीर पंथ का अनुसरण करने का दम भरते हैं, वे ही कबीर की मान्यताओं के खंडन पर खुलेआम उतारू हों? ऐसे में मैं क्यों चुप रहूँ? मैंने निदेशक, दिल्ली दूरदर्शन को एक तीखा पत्र लिखा कि वे प्रतिगामी और अवरोधक ताकतों के हाथ में न खेलें। उनहें आगाह भी किया कि वे अवांछित तत्त्वों के दबाव से मुक्त होकर नाटक की अगली कड़ी पुनः प्रसारित करें।

इस बीच नाटक के प्रसारण के मुद्दे को लेकर अखबारों में खबरें, टिप्पणियां और कई कॉलम लिखे गए हैं। लेखक और बुद्धिजीवी एक बड़ी तादाद में प्रसारण के पक्ष में एकजुट हुए हैं। दूसरी ओर कबीर–पंथियों ने नाटक के विरुद्ध अपनी मुहिम तेज कर दी है। मेरे पास रोज़ रात को और सुबह उनके धमकी भरे टेलीफोन आते है खासतौर से बनारस और दिल्ली की उन जगहों से जहां उनके केन्द्र हैं। उनकी सीधी–सीधी धमकी है–'अगर तुमने

दूरदर्शन पर कबीर नाटक का प्रसारण न रुकवाया तो हम तुम्हें जिन्दा नहीं छोड़ेगें।' उनकी शिकायत है कि नाटक में कबीर को एक आम आदमी के रूप में दर्शाया गया है जबकि वे दिव्य पुरुष थे और उनका विवाह और परिवार से कोई वास्ता नहीं था। उनके मां–बाप नहीं थे। वे कमल–पत्र पर अवतरित हुए थे। मैं यह सब कैसे मान सकता हूँ? मेरे लिए वे हाड़–मांस के आदमी थे, उनका विवाह हुआ था, वैवाहिक उलझनों और अन्तर्द्वन्द्वों का उन्होंने सामना किया था और उसी के भीतर से वे एक बड़े संत–कवि के रूप में उभरे थे।

मैंने दिल्ली के कबीर–पंथियों को इस विषय पर बातचीत के लिए घर पर आमंत्रित किया। उन्होंने हामी भरी पर कोई नहीं आया, उल्टे उनका मेरे विरुद्ध प्रचार और तेज हो गया। इधर लेखकों–बुद्धिजीवियों की एक संघर्ष समिति गठित हुई और भारतीय लेखक संगठन, जनवादी लेखक संघ, राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ, पंजाबी राइटर्स कोऑपरेटिव सोसाइटी, पोयट्री सोसायटी ऑफ इण्डिया, गवाक्ष, लेखनी, विमर्श, रचना–पर्व और सूफी साहित्य–शोध केन्द्र की तरफ से एक ज्ञापन–पत्र महानिदेशक दूरदर्शन को दिया गया, जिसमें मांग की गयी कि 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' के अगले भाग को तत्काल प्रसारित किया जाए। महानिदेशक ने लेखकों–बुद्धिजीवियों के सम्मुख यह वायदा किया कि नाटक का प्रसारण शीघ्र होगा, लेकिन कितनी शर्मनाक बात है कि इस तरह के वायदे के बावजूद कबीर–पंथियों के दबाव में आकर दूरदर्शन महानिदेशक ने इस दिशा में कोई कार्रवाई नहीं की। शब्द की सत्ता से भरोसा तो नहीं टूटा, एक अर्थ में तो वह भरोसा और पुख्ता ही हुआ कि शब्द में लोगों को विचलित करने की शक्ति अभी बाकी है। हां, यह जरूर लगा कि अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की ज़रूरत आज भी कुछ कम नहीं हैं। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता कुचले जाने के विरोध में आवाज़ तो उठनी ही चाहिए, भले ही वह नक्कारखाने में तूती की आवाज़ क्यों न हो?

1990

10 जनवरी : मुझे लगता है हर आदमी के बोलने और सोचने की भी एक रिद्‌म होती है जिससे उसके बोलने का, भाषा का एक आरोह–अवरोह बनता है। इसे वह बचपन में ही पा लेता है। इस में सैकड़ों ध्वनियाँ एक साथ समायी रहती है। लेखन में—कविता, कहानी, नाटक में जो अनुभव प्रकट होता है, वह सोचने, बोलने की उस आदिम रद्‌म से कहीं न कहीं जुड़ा होता है। कला की इसीलिए कोई सीधी लकीर नहीं है। वह एक पेड़ की तरह लगती है और फलती है। जिस रिद्‌म की मैं बात कर रहा हूँ वह अलग–अलग कलाओं में नये–नये रूपाकारों में ढलती है। चित्र–कला में रंगों और रेखाओं के संयोजन में, नृत्य–कला में भंगिमाओं, मुद्राओं, देहभाषा के स्पन्दनों में, रंगमंच पर अभिनय में। कविता में लय–विधान के विभिन्न रूपों में लय के उन्हीं आदिम रूपों को शायद पकड़ा जा सकता है।

मैं महसूस करता हूँ मेरे बोलने, सोचने और बातचीत करने का एक खास लहज़ा है। उसमें एक तरह का उतार–चढ़ाव है। वह मेरी कविताओं और नाटकों में विभिन्न शक्लों में,

विन्यासों में आया होगा—सृजनात्मक मूड और अनुभव के साथ बदला होगा। इसे ही शायद कविता की आन्तरिक लय कहते हों। 1980 में जब मैंने लम्बी कविता 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' लिखी तो मैं खुद अचंभित रह गया था—विभाजन की त्रासदी को लय के विविध पैटर्नों में बंधते देख। त्रासदी और लय 10–11 साल की उम्र में मेरे अवचेतन में कहीं गुंथे रह गये होंगे जो काल के अन्तरालों को चीरते हुए मुझ तक आ गए इतिहास के एक खास बिन्दु पर और यह कविता संभव हो गयी। पहले कई बार लगा था कि उस त्रासदी को शब्दबद्ध करूँ पर ऐसा करने के प्रयास में मुझे लगता रहा कि यह संभव नहीं है। उस त्रासदी के सामने मैं छोटा पड़ जाता लेकिन इस बार जब लिखने बैठा तो महसूस हुआ जैसे मुझे मेरी जमीन मिल गयी हो। अवचेतन में पड़ी चीजें जैसे एक लय में हिलने–डुलनी लगी हों और आकार पाने लगी हों। ऐसा ही एहसास मुझे 'एक अदद सपने के लिए' (रचनाकाल 1983) लिखते हुए हुआ। लोकजीवन और संस्कृति के प्रतीकों को लेकर मैं आतंक के भीमाकार से जूझने लगा और भाषा के सपनों को सहेजने लगा। 'खरगोश–चित्र और नीला घोड़ा' कविता का पहला ड्राफ्ट आज पूरा किया है। यह कविता लिखते हुए मुझे लगा है जैसे मैंने अपनी सोच और संवेदना की एक निजी लय पा ली हो।

20 जनवरी : मुक्तिबोध अगर निरे आवेग के कवि होते तो कुछ खास न होते। वे खास इसलिए हैं कि उन्हें आवेग को थामना आता है। आवेग पर विचारों का डैम बनाकर वे उसे कविता की वास्वविक ऊर्जा में बदल देते है। ज्ञान और संवेदना में संतुलन साधना उन्हें खूब आता है। इसके लिए उन्होंने फैंटेसी के शिल्प का बेहतरीन इस्तेमाल किया है। परिस्थिति के ठंडे और आवेगहीन ब्यौरे देते हुए जब वह उन्हें भावावेगों और तनावों में, चटकती–तिलमिलाती मन स्थितियों से लेकर सामाजिक संघर्षों के बीचोंबीच ले जाते हैं तो वे एक बड़े कवि की श्रेणी में पहुँच जाते हैं।

25 जनवरी : अज्ञेय ने एक स्थल पर माना है कि लंबी कविताओं को कलात्मक एकता और गठन देने वाली चीज़ केवल भाव की संहिति और तीव्रता नहीं है। मुझे लगता है कि भाव की संहिति और तीव्रता चूंकि प्रगीत और एक हद तक कविता की भी विशेषता है, ऐसा कहकर अज्ञेय लंबी कविता की संरचना को प्रगीत और छोटी कविता की संरचना से अलग तो रहे हैं, लेकिन यह नहीं बता रहे कि लंबी कविता के लिए क्या ज़रूरी हो सकता है। अज्ञेय भाव के साथ–साथ लंबी कविता के विधान में बौद्धिक अनुचिंतन को महत्त्व दे रहे हैं। हम जानते ही हैं कि उनकी कविता 'असाध्य–वीणा' को लंबी कविता के गठन में ढालने वाली चीज़ केवल भाव नहीं है, अनुचिंतन भी है। भाव के बजाय या उस के बावजूद, अनुचिंतन को स्वीकारना इसी ओर संकेत करता है। लंबी कविता को गठन प्रदान करने वाली चीज़ भाव की संहिति और तीव्रता न सही पर केवल अनुचिंतन के बल पर उसे कैसे खड़ा किया जा सकता है। लंबी कविता में विभिन्न भाव और विचार कई संदर्भों और प्रसंगों में गुंथे–तने रहते हैं। एक–दूसरे से प्रेरित और अग्रसरित होते भावों, विचारों की यह तीव्रता लंबी कविता

की खास पहचान है। वर्तुलाकार संरचना और अनुचिंतनात्मक कविता को पर्याय मानकर नामवर सिंह की तरह 'असाध्य–वीणा' को प्रगीत करार देना भी युक्तिसंगत नहीं है। 'असाध्य–वीणा' में वर्तुलाकार संरचना और अनुचिंतनात्मक कविता पर्याय नहीं है। संरचना और अनुचिंतन विभिन्न संदर्भों से जुड़े होने पर भी संवेदना के विभिन्न स्तरों को उभारते हैं, इसीलिए, यह कविता प्रगीत नहीं, लंबी कविता ही है।

14 फरवरी : कल उत्तर क्षेत्र नाट्य समारोह, इलाहाबाद में संभव द्वारा *'कलंदर'* नाटक का मंचन हुआ है। मैं ग्रुप के साथ आया हूँ। निर्देशन और मंच–विधान अखिलेश खन्ना ने किया है जब कि वह खुद साथ नहीं आ सका है। ग्रुप का इन्चार्ज़ सुदीप चक्रवर्ती है। रिहर्सल के दौरान अखिलेश को मैंने कई तरह की टेंशन से गुजरते देखा है। तुराब का रोल कर रहे राजेन्द्र सेठी की बदमिजाती को वह धीरज से उसके रोल की तरफ मोड़ने की जितनी कोशिश करता उतना ही ज्यादा वह उखड़ जाता है और तुराब के चरित्र की तरह बेकाबू हो जाता। दूसरे कलाकारों पर जाने–अनजाने इसका असर होता ही है। इससे नाटक की रंग–परिकल्पना बार–बार ढीली होती और टूटती रही। उसकी गति कभी कम तो कभी तेज हो जाती। आज की प्रस्तुति इससे भला कैसे बचती? ज्ञान शिवपुरी के संगीत और अखिलेश खन्ना के मंच–विधान में कोई कोर–कसर नहीं थी लेकिन गति या तो एकदम टूटती गयी या कुछ ज्यादा ही तेज होती गयी। अजय मनचंदा ने बुद्धू के रोल को, एच.एल.बल. ने हमीद के रोल को, अश्विनी शास्त्री ने जलालुद्दीन खिलजी के रोल को बखूबी निभाया है।

आज प्रस्तुति पर विचार गोष्ठी हुई है। चरणदास सिद्धू और जे.एल. कौशल प्रस्तुति की ऊपरी सतहों को ही देखते रहे जब कि जगदीश गुप्त ने नाट्य–वस्तु और प्रस्तुति पर विस्तार से गंभीर चर्चा की। ब. व. कारन्त ने निर्देशक द्वारा प्रस्तुति को खड़ा करने की प्रक्रिया को कई स्तरों पर खोला। वे सारी बातें मेरे भीतर उतरतीं गयी। उनका कहना था कि प्रस्तुति में तकनीक–पक्ष इतना परफैक्ट है कि नाट्य–वस्तु और नाट्यनुभव पीछे छूट गये हैं, उनमें तालमेल नहीं बैठ पाया है।

20 फरवरी : लंबी कविता में अभिव्यक्त अनुभव कवि के लंबे आत्म–संघर्ष से छनकर आता है। उसकी सृजन प्रवृत्ति में कोई घटना या प्रसंग एक नाल की तरह निरन्तर गड़ती रहती है। तनाव के इस केन्द्रीय बिन्दु से ही कविता आगे बढ़ती और फैलती है। बहुत संभव है कि कवि के अवचेतन में लंबे समय से बहुत कुछ रिसता रहा हो, जमा होता रहा हो, जिससे बाध्य होकर उसने लंबी कविता लिखने की प्रारम्भिक स्फूर्ति पाई हो। इस क्षण से शुरू होकर लंबी कविता पहचाने–अनपहचाने रास्तों पर निकल पड़ती है जहां एक के बाद एक कई भाव, विचार, प्रसंग परस्पर जुड़ते–टकराते आते हैं और कविता उन सबसे मिल–जुलकर एक बड़े फलक पर चरितार्थ होने लगती है।

लंबी कविता छोटी कविता और प्रगीत की तरह एक सृजन–क्षण में सिमटी या ठिठकी नहीं रह सकती। यहां एक सृजन–क्षण का वर्चस्व नहीं है, बल्कि यहां सृजन–क्षणों का एक

द्वन्द्वात्मक क्रम रहता है। इन क्षणों को जो कवि जितनी प्रतिभा और कौशल से संभालता है उतना ही वह लंबी कविताएं लिखने में सफल होता है।

यह धारणा भी प्रचलित है कि कुछ कवि विभिन्न भावात्मक अंशों को जोड़कर या छोटी कविताओं को एक सूत्र में पिरोकर लंबी कविताएं लिख लेते हैं। प्रदीर्घ तनाव की उपस्थिति के अभाव में, इस तरह की कविताओं को लम्बी कविताएँ कैसे माना जा सकता है?

9 मई : (अमृतसर) ओम अवस्थी के एक छात्र की मौखिकी परीक्षा के लिए आया हूँ, यह पता चलते ही शुभदर्शन गेस्ट हाऊस में आ गया। उसने तुर्त-फुर्त एक गोष्ठी का आयोजन कर डाला है। लगता है '*खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा*' कविता की टापें यहां मित्रों में पहुँच चुकी हैं। उनके अनुरोध पर मैं वही कविता सुनाता हूँ। चर्चा का प्रारंभ डॉ. मेघ करते हैं—यह कविता चित्रों के माध्यम से 'स्टिल' तोड़ने की कोशिश है। हादसे गुज़र जाते हैं। डरावनापन पहले की कविताओं की अपेक्षा इस कविता में बहुत कम है। अभिव्यक्ति चित्रों के माध्यम से हुई है। कैनवास टूटा है तभी कविता सक्रिय होती है और खरगोश पेंटिंग से बाहर हरकत में आते हैं और देखते-देखते लाशों में बदलते हैं। इसी तरह छत की मुंडेर पर पतंग उड़ा रहा लड़का गोली लगने में धड़ाम से नीचे गिरता है। तत्काल संलिप्तता नहीं, कलात्मक तटस्थता है इस कविता में। डॉ. अवस्थी ने इस कविता की नाटकीय संरचना पर बात की—भाषा का प्रयोग नाटकीय हैं सामाजिक समस्याओं को कला उपकरणों के ज़रिए कविता में जिस तरह उठाया गया है वैसा विन्यास अन्य किसी कविता में नहीं दिखता। शहरयार को लगा—कविता में भूगोल होते हुए भी भूगोल नहीं है। इसे से कविता सीमित होने से बची है। इसकी अपील व्यापक हुई है। देश के किसी भी घटना स्थान से इसे जोड़ा जा सकता है। पेंटिंग, खरगोश और नीले घोड़े के प्रतीकों को इतिहास में फैला कर देखा गया है और नीले घोड़े से गुरू गोविन्द सिंह के नीले घोड़े की याद आ गयी। मैं सुनता रहा और अपनी रचना-प्रक्रिया की तहों को टटोलने की कोशिश करता रहा।

30 जून : मेरे विचार में लंबी कविता का पहला ड्राफ्ट कभी मुकम्मिल और अंतिम नहीं हो सकता। पहले ड्राफ्ट में अर्ध-चेतन मन के अक्स तैरते रहते हैं जिसकी वजह से कुछ खाली जगहें और अंतराल आ जाते हैं। इन्हें पाटने लिए कवि को लगातार जूझना पड़ता है।

लंबी कविता के आकार को लेकर अक्सर विवाद खड़े किए जाते हैं। मेरे विचार में कविता के आकार का प्रश्न महज़ शिल्प या ढांचे का नहीं है। यह प्रश्न एक लंबे काल-खंड में अनुभूति के जुड़ने, तनने और गुंथने का भी है। आकार और तनाव परस्पर बिंधे हुए हैं यहां। केन्द्र में तो काव्यानुभव ही है तो कभी एक आकार में बंधता है तो कभी दूसरे में।

15 अगस्त : आदिवासियों को आज भी बर्बर-जंगली कहने वालों की कमी नहीं है जबकि यह आरण्यक संस्कृति है जिसके बिना भारतीय संस्कृति को कोई खाका नहीं बनता। भारतीय समाज के हाशियों पर पड़े हुए आदिवासी लोगों की हालत, इनके रहन-सहन और तहज़ीब के बारे में मैं कितना कम जानता हूँ। उनके बारे में कोई ढंग की किताब भी तो नहीं है। अर्जुनदास केसरी की किताब 'आदिवासी जीवन' में किताबी अध्ययन नहीं है लेकिन

इसमें कोई गहरा विश्लेषण और समस्या की तह में जानेवाली दृष्टि नहीं है। किताब के अन्तिम अध्याय में लेखक ने तराई क्षेत्र की प्रमुख जनजातियों–भोटिया, बुक्सा, राजी, खारू और जौससारी का संक्षिप्त परिचय दिया है। लेखक आदिवासियों के बीच रहा है और उनकी स्थितियों और आकांक्षाओं, मनोदशाओं और यातनाओं को अपने करीब से समझने का प्रयास किया है। लेखक ने उन कारणों को भी रेखांकित किया है जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी आदिवासियों के शोषण और दुर्दशा के लिए जिम्मेदार हैं। एक जगह उसकी टिप्पणी है, "इस घाटी की माटी में सोना उगता है जिसे बाहरी लोग भोगते हैं। जीवन की विसंगतियां भोगते हैं यहां के लोग।" इस शोषण से उबरने की आदिवासियों की प्रवृत्ति की तरफ लेखक ने संकेत किया है, "इसकी उन आदिवासियों पर भंयकर प्रतिक्रिया है तथा वे संघर्ष के लिए तैयार है।"

मैंने कभी '*मुंडा लोक कथाएँ*' (संपादक : जगदीश त्रिगुणायत) पढ़ी थी। मुंडा जाति (वह जाति जो बिहार, बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के जंगलों, पहाड़ों में निवास करती है) की लोक–कथाओं को यह संकलन इन आदिवासियों की जिन्दगी को समझने के लिए मुझे तब अनिवार्य–सा लगा था। आज मैंने दोबारा इसे बीच–बीच से टटोला है। मौखिक परम्परा की अंशतः विस्मृत और बिखरी हुई कथाओं की जाँच–पड़ताल करके मुंडा भाषाओं की मुंडारी उपभाषा की इन कथाओं के हिन्दी अनुवाद के कार्य को बड़ी लग्न और प्रामाणिकता से किया गया है। दो साल पहले जब मैं पंजाब के लोक–गाथा गीतों पर काम कर रहा था तो मैंने महसूस किया कि लोक–कथाओं, लोक–गीतों की मौखिक परम्परा की सम्पदा की संभाल अपने आज को समझने के लिए कितनी ज़रूरी है। आदिम कथाओं की समझ भारतीय संस्कृति के व्यापक स्वरूप को सामने ला सकती है। इस संकलन में एक धर्म–गाथा है–'*सोसोबोंगा*'। इसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं :

हे भगवान राजा, हे देवी कुमारी!
देश तुम्हारा है, दुनिया तुम्हारी है।
यह जो फैला हुआ है, यह जो बिछा हुआ है।
पूरब कोने में, पच्छिम कोने में
उत्तर कोने में, दक्खिन कोने में
तुम्हारी ही सृष्टि है, तुम्हारी ही रचना है।

....

हे मालिक, हे स्वामी,
अपने देश में अपनी दुनिया में
(हम लोग) इतने दुख में हैं, इतनी विपत्ति में हैं।
सातों दिन (और), सातों रात
हमें दाना–पानी नहीं मिल रहा है।
हाय भाइयों, हाय बन्धुओं
हम क्या करें, हम कैसे रहें?

और राजा उत्तर देता है –
चारों कोना और सारी पृथ्वी
तुम लोग देखो, तुम लोग खोजो

और आम आदमी फिर फरियाद करता है;
हे मालिक, हे स्वामी
हम लोगों ने देखा, हम लोगों ने खोजा
एकासी मैदान में, तेरासी टांड़ में
बारह भाई असुर, और तेरह भाई देवता
फूंक रहे हैं, धौंक रहे हैं
आँच लग रही है, धौंक लग रही हैं।
आकाश पर आँधी है, धरती पर कुहासा (छा रहा) है।
हम क्या करें हम लोग कैसे रहें?

कविता धीरे–धीरे उठती जाती है, गुंथती जाती है जातीय स्मृतियों के लोक बिम्बों और प्रतीकों में और 'हम क्या करें, हम कैसे रहे' की रिद्म और इस की अनुगूंज गहराती जाती है। मुझे नागार्जुन की लंबी कविता 'हरिजन–गाथा' याद आती है जिसमें ऐसा तो कभी नहीं हुआ था' का उपयोग बार–बार हुआ है नयी अर्थ–ध्वनियों के साथ। सोचता हूँ 'हम क्या करें हम लोग कैसे रहे' जैसी लोक–रिद्म का इस्तेमाल किसी लंबी कविता में करूँ।

15 सितम्बर : प्रकृति और साहित्य के रिश्तें को लेकर अकसर सोचता हूं, इसे कैसे निर्धारित करूं? दोनों के साथ जुड़े दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक प्रत्ययों से बचना चाहता हूँ क्योंकि तब इस रिश्ते के खंडित होने की आशंका होती है। मेरे लिए मनुष्य, प्रकृति और साहित्य एक दूसरे में घुसपैठ कर सकते हैं, करतें भी हैं पर ये एक दूसरे के मातहत नहीं हैं, न ही एक दूसरे से कमतर, इन की अपनी सत्ताएँ भी हैं। एक लेखक के नाते जब मैं इनके बारे में सोचता हूं तो मुझे इनके बीच का सिलसिला नजर आता है—एक रिश्ता सघन, गूंजता हुआ।

मनुष्य को प्रकृति के हवाले नहीं किया जा सकता वैसे ही जैसे साहित्य को प्रकृति के प्रति विसर्जित नहीं किया जा सकता। साहित्य या कविता को किसी बड़ी सत्ता को दे दिए जाने की कविवर अज्ञेय जैसी मुद्राएं, चाहे उनमें कितनी भी अन्तहीन विनम्रता क्यों न हो, मुझे बनावटी लगती हैं, मानवीय तो कदापि नहीं।

प्रकृति और साहित्य का रिश्ता संभ्यताओं और संस्कृतियों के विकास तथा चिन्तन–धाराओं और जीवन व्यवहारों में परिवर्तन के साथ बदलता रहा है। इससे प्रकृति को देखने और साहित्य में उसे अभिव्यक्त करने के दृष्टिकोण भी बदलते रहते हैं। मध्यकाल में प्रकृति को जिन अर्थों–आशयों और कल्पनाओं में बांधा गया, आलम्बनों, उद्दीपनों और उपमानों,

प्रतीकों के सौन्दर्य–विधानों में कसा गया, ठीक उसी तरह और उन अर्थों में आज संभव नहीं है। आज के साहित्य में प्रकृति महज़ सकून (रिलीफ) के तौर पर नही है। यह एक जीवंत, चुभती उपस्थिति के तौर पर आयी है।

इन दिनों जिस उत्तर यथार्थवाद की चर्चा है, वह वैज्ञानिक और सामाजिक यथार्थवाद में कहीं ज़्यादा सर्वग्रासी है। ऐसे में उत्तर आधुनिक सोच ने भी जड़ों की तरफ लौटने की बात कही है। यह 'बैक टू नेचर' जैसा पीछे लौटना नहीं है। दरअसल, यह पीछे जाकर बड़ी शाक्ति से आज से जुड़ना है।

मेरी इच्छा है शब्द केवल प्रकृति के उपादान बन कर न रह जाएं, वहां से वे ज़रूरी ताकत लेकर आदमी के साथ जुड़े उसे समृद्ध करें।

10 अक्तूबर : नाटक जनता से जुड़ी कला है अपनी संवेदना और विचार में, अपने विधान में, भाषा और शिल्प में। 'नाट्य' शब्द में ही इसकी लोकधर्मिता और जन सम्बद्धता व्यंजित है। भरतमुनि ने ठीक ही कहा है, "न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प है, न कला है, न विद्या है, न योग है जो नाट्य में न देखा जाता हो।" *न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।/न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते।।* (ना.शा. 1, 116)

नृत्य, संगीत और स्थापत्य जैसी विभिन्न कलाओं के सहयोग से ही लेखक, निर्देशक, अभिनेता और दर्शक नाट्य करते हैं।

नाटक के इतिहास में ऐसे लम्बे–चौड़े बंजर अंतराल भी आये हैं, जब नाटक जनजीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम न रहकर खेल–तमाशा रह गया। संस्कृति और समाज के संकटों की कोई अनुगूंज उनमें नहीं मिलती। भारतेन्दु के नाटकों के बाद दूर तक फैली हुई परती परिकथा है–बंजर धरती है जहा कोई नाटक लहराता नहीं दिखता।

हमारे यहां नाटक को 'लोक वृत्तानुकरण' कहा गया है। लोकवृत्त के अनुकरण की बात यहां केवल चरित्रों और स्थितियों से ही जुड़ी हुई नहीं है, विभिन्न नाट्य–शैलियों, अभिनय पद्धतियों और अन्य आयामों से भी जुड़ी है। नाटक की जमीन लोक–जीवन है जहां इसकी जड़ें हैं और यही रंगभूमि है। जो नाटककार इस भूमि पर जितनी मजबूती से खड़ा होगा, वह उतना ही बड़ा होगा।

तकनीक और फॉर्म की समझ ज़रूरी है, पर नाटककार और रंगकर्मी के लिए उस का गुलाम हो जाना घातक है। उसे हर बार फॉर्म और तकनीक के परिचित ढांचे को तोड़ना होता, उसे भीतर से फोड़ना होता है। भारतेन्दु ने ऐसा किया है, भारती और मोहन राकेश ने ऐसा किया है, लाल और शंकर शेष ने ऐसा किया है, ब्रेख्त ने ऐसा किया है। नये कथ्य को उठाते हुए, नये से नये प्रयोग करते हुए हमें भी वैसा करना होगा।

15 नवम्बर : अकादमिक–क्षेत्र और कला–क्षेत्र एक–दूसरे के सहयोगी होने चाहिए, पर हम देखते हैं कि वे एक दूसरे के विरोधी का सा रोल निभा रहे हैं। शिक्षा–संस्थानों और विश्वविद्यालयों में इन दिनों जिस तरह की आपाधापी और मारा–मारी है, उसमें लेखकीय

प्रवृत्ति वाले प्राध्यापक (जिनमें विद्यार्थियों को कुछ नया देने की सामर्थ्य होती है) के लिए कोई उम्मीद नहीं रह गयी है। औसत दर्जे के प्राध्यापक को एक अदद शोध–प्रबन्ध के बूते अपनी विद्वता और विशेषज्ञता की धाक जमाते विभागीय शिखर पर चढ़ते, फलते–फूलते मैंने देखा है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, इन्द्रनाथ मदान जैसे लेखकों/विद्वानों की बात भूल जाइए जिन्होंने लेखको की पीढ़ियाँ तैयार की थीं। आज हम क्या कर रहे हैं? कई बार अच्छे प्रतिभा संपन्न लड़के–लड़कियों आते हैं, लेकिन उपयुक्त वातावरण न मिलने से वे अपनी कला या आलोचना का विकास नहीं कर पाते। उपाधियां पाने के बाद वे अपने उस्तादों की तरह जोड़–तोड़ में उस्ताद बनकर शैक्षणिक ढाँचे में ग़र्क हो जाते हैं। यह ढाँचा पूरे देश की निरन्तर गिरती हुए छवि, भ्रष्टाचार और घोटालों की प्रतिच्छाया सा लगता है। शिक्षा–मंत्रालय, यू.जी.सी., विश्वविद्यालय और विभाग एक दुष्चक्र की कड़ियाँ बन गये हैं।

विभागों में राजनीति प्रवीण लोगों की संख्या पिछले कुछ वर्षों में तेजी से बढ़ी है। कला, साहित्य से उन्हें कुछ लेना–देना नहीं है। इनके नाम पर पाना और हथियाना वे बखूबी जान चुके हैं। ऐसे माहौल में संवेदनशील, कला–मन वाले विद्यार्थी को कभी नौकरी के लिए, कभी डिग्री के लिए विभिन्न तनावों से गुजरना पड़ता है। जो जूझने के इस माद्दे को बनाये रखते हैं, वे ही थोड़ा टिक पाते हैं। इसके लिए कई बार उन्हें बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। उनके रास्ते में वे लोग आ खड़े होते हैं जो अकादमिक दुनिया के सिरमौर होते हैं लेकिन जिन के लिए कला, सृजन का मूल्य बाजार की वस्तु से अधिक नहीं होता।

1991

5 जनवरी : राजीव सक्सेना से फोन पर लम्बी बातचीत। पिछले कुछ समय से वे ढीले से नज़र आये हैं, अस्वस्थ से। पता नहीं उन्हें क्या हुआ है? क्या कोई पारिवारिक दबाव है उन पर या कोई दमघोंटू परिस्थिति या कोई ऐसी सरगर्मी जिनका एक सिरा राजनीति से जुड़ा हो? कभी उनसे मुलाकात हो तो पूछूं बात क्या है?

सुबह 9 बजे ललित शुक्ल आ गया। आलोचना ठीक–ठाक लिख लेता है। पर ढंग की कोई फार्मूलेशन नहीं कर पाता। उसके अंदर एक पण्डित बैठा हुआ है जो उसे न आलोचना में सहज होने देता है न कविता में। इस पण्डित की जड़ें कहाँ हैं? कुछ है जो उसके भीतर गांठ मारे बैठा है।

ग्यारह बजे मैं सादिक़ के घर पहुँचा। मंटों को लेकर उनसे चर्चा होती रही। 'सआदत हसन मंटो के नाटक' पुस्तक छप रही है। उसी की भूमिका लिख रहा हूँ। मंटो की कुछ तस्वीरें आज उनसे ले आया हूँ। कुंछ ही दिनों में सादिक़ मेरे कितना करीब आ गया है। सोचता हूँ यह किताब उसे ही समर्पित करूँ।

30 जनवरी : इधर ऐसे आलोचक हैं जो साहित्यिक मूल्यांकन के लिए रचना के पाठ 'टैक्स्ट' पर बल देते हैं। उनका मानना है कि मूल्यांकन के लिए रचना का पाठ की प्रमाण

है। जितने ध्यान और गहराई से रचना का पाठ किया जायेगा, उसका अर्थ और सौंदर्य उतना ही खुलेगा। ठीक है कि रचना केन्द्र में रहे लेकिन क्या रचना के पीछे के रचनाकार को मूल्यांकन के दौरान छोड़ा जा सकता है? रचना हवा में होती नहीं, उस पर परिस्थिति और परिवेश के दबाव रहते ही हैं। इतिहास और संस्कृति के संदर्भ उसे स्फूर्त करते रहते हैं। 'टैक्स्ट' पर जोर देने वाला आलोचक रचनाकार को आलोचना से बाहर करने पर क्यों बज़िद है? असली मुद्दा क्या है? क्या यह रचना और रचनाकार की मिली–जुली फैंटेसी को तोड़ने का उपक्रम है?

13 जुलाई : सादिक़ के घर से दोपहर 12 बजे लौटा तो देखा बाऊजी तख्तपोश पर आराम से लेटे हुए हैं। हिलडुल नहीं रहे। अनुराधा ने एक–दो चम्मच दलिया खिलाया। उसने नब्ज देखी। उनकी बांह गिर गयी। दोपहर ढाई बजे बाऊजी (पिताजी) का देहान्त हो गया। उनके न रहने से लगा मैं कितना खाली हो गया हूँ। ज़िन्दगी की किताब का एक अध्याय अचानक गायब हो गया। मैं अपने बचपन से उतरता हूँ–उनका रौबीला चेहरा देखता हूँ और पिछले दिनों की उन की बेइन्तहां लाचारगी। धीरे–धीरे सीढ़ियाँ उतरते–चढ़ते अब कहां दिखेंगे चढ़ते–उतरते सीढ़ियाँ। 'टोहते, थरथराते हाथ/कहने को आतुर/कह न पाते होंठ/बिंधती ठहरी आखें/दिखेंगी नहीं अब आस–पास।'

15 अगस्त : आज श्रीराम सेंटर में नाटककार कार्यशाला का प्रारम्भ। नेमिचंद्र जैन कार्यशाला के निर्देशक हैं। इस कार्यशाला में मुझे एक नया नाटक '*जिन्दाबाद–मुर्दाबाद*' का वाचन करने के लिए आमंत्रित किया गया है। बीस के करीब नाटककार हैं, जिन्हें देशभर से आमंत्रित किया गया है, इनमें से कुछ नाम है अविनाश चन्द्र मिश्र, नन्द किशोर आचार्य, राकेश जैन, अब्दुल बिस्मिल्लाह, स्वयं प्रकाश। यह अपने ढंग का एक प्रयोग है कार्यशाला चार दिनों तक चलेगी।

16 अगस्त : आज मैंने कार्यशाला के दूसरे दिन पहले सत्र मे 'जिन्दाबाद–मुर्दाबाद' नाटक के वाचन से पूर्व कहा कि नाटक मंटो की कहानी *टोबा टेकसिंह* से प्रेरित है, हालांकि उस का रूपान्तर नहीं है। पहला और अस्थायी ड्राफ्ट है जिसके एक–एक दृश्य पर काम करने की अभी जरूरत है। कई तरह के परिवत्तनों की संभावनाएँ तो हैं हीं। नाटक पढ़ा तो कई तरह की प्रतिक्रियाएँ और सुझाव आए। नाटककारों और नाट्य विशेषज्ञों (नेमिचन्द्र जैन, राजिन्दर नाथ, गोविन्द देशपांडे, कृष्ण कांत) ने नाटक के कई पक्षों पर–खासतौर पर बंटवारे के निहितार्थों के आज से जुड़ने पर और इस की भाषा पर विचार किया। नाटक में 'कोरस' का जैसा उपयोग किया गया है उसे लेकिन नेमि जी की प्रतिक्रिया अच्छी है। इसी सत्र में अब्दुल्ल बिस्मल्लाह ने भी एक नाटक सुनाया जो ऊपर–ऊपर से गुजर गया।

20 सितम्बर : यह कैसा विभाग है। यहां के लोग कैसे हैं? बाहर से कुछ, अन्दर से कुछ और। कितना मुश्किल है इन लोगों को भांप पाना। गिरगिट के रंग भी इनके सामने मात खा जाएं। कभी पैरों पड़ते, कभी छाती पर चढ़ते; कभी चापलूसी करते, कभी आंखें

दिखाते; कभी घिघियाते, कभी शंखनाद करते। नफासत ओर गलाज़त, उच्चता और नीचता, विद्वता का तेज और कमीनापन, समझदारी और मक्कारी, पुरकारी और होशियारी–अगर आप ने एक साथ न देखे हों तो यहां आ कर देख सकते हैं। ऐसी प्रजाति आप ने कहीं देखी हो या न देखी हो, मैंने कही नहीं देखी हालांकि पूरी जिन्दगी कॉलेजों में पढ़ाते हुए बितायी है। यहां गुप्प–चुप्प खिचड़ी पकती रहती है। आज दो एक तरफ, कल वही दो दूसरी तरफ, आज एक की टांग खींचते हुए, कल दूसरे की। खींचतान में उनकी टांगें कहां साबित रहती हैं पर वे इसी जोड़–जोड़ में लगे रहे हैं कि साबित टांगे बस उन्हीं की हैं, दम–ख़म वाले सिर्फ़ वही हैं और बाकी सभी लंगड़े–लूले, बहरे–काने हैं। अगर नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं? मैंने सांप भी देखे हैं और मेमने भी पर यहां पहली बार देखा कि सांप का मुँह मेमने का है या एक मेमना है जो डंक मारता है। इन से रोज मिलते–जुलते हुए मुझे वर्षों पहले लिखी कविता का आखिरी टुकड़ा याद आ जाता है : '*क्या फर्क़ पड़ता है/सांप का मुँह मेमने का हो/या न भी हो/या एक मेमना हो जो डंक मारता हो।*'

संस्मरण

ठाकुर प्रसाद सिंह की एक दिलचस्प शैतानी

● शतदल

ऐसी ही चुहलबाजियों, छेड़खानियों और शैतानियों से भरा पड़ा है ठाकुर भाई का जीवन। कभी किसी की साइकिल का पंक्चर बनाने वाले को नागानंद मुक्ति कंठ बना दिया और भिजवा दीं उसकी कविताएं 'माध्यम' के लिए ....

नवगीत का नामकरण कुछ देर से हुआ। चौथे–पाँचवे दशक में ही निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि के यहाँ गीत को छायावादी संस्कारों से मुक्ति मिल चुकी थी। वैसे जो बदलाव नज़र आ रहे थे उन्हें स्वाभाविक विकास–प्रक्रिया मानना ज्यादा ठीक होगा। फिर भी नवगीत–आन्दोलन के संदर्भ में ठाकुर प्रसाद सिंह और वीरेन्द्र मिश्र के नाम बड़े महत्वपूण हैं। एक ही काल–खण्ड में ये दोनों कवि छायावादी प्रवृत्यिों से इतर नयी भाषा, बिम्ब, प्रतीक, कथ्य आदि से जुड़कर सृजन कर रहे थे। इनकी यह कोशिश इन्हें अपने समकालीन रचनाकारों से अलग खड़ा करती है। इनका सृजन आज भी गीत विधा से जुड़े कवियों को नयी दिशा व प्रेरणा देता है।

ठाकुर प्रसाद सिंह को, जिन्हें हम ठाकुर भाई कहा करते थे, मेरा विश्वास है कि प्रवर्तक–प्रसंग में शायद ही कभी किसी ने चिंतित पाया हो। .... यह बात ज़ोर देकर इसलिए कह सकता हूँ क्योंकि यहाँ मेरा एक अनुभव जुड़ा है।

आठवें दशक के उत्तरार्द्ध से नवें दशक के उत्तरार्द्ध तक हम 'शृंगार–संध्या' वार्षिक पत्रिका प्रकाशित कर रहे थे। किसी वर्ष मुजफ़्फ़रपुर से राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने अपने शिष्य/मित्र को लेख भिजवाया। लेख बड़ा था, उसमें यह चर्चा की गयी थी कि 'वंशी और

मादल' के गीत ठाकुर प्रसाद सिंह के नहीं हैं। साथ ही यह भी कि नवगीत के प्रवर्तक राजेन्द्र प्रसाद सिंह हैं।

सम्पादक होने पर तमाम अधिकार स्वतः मिल जाते हैं। तब उस लेख के पीछे की चाल मैं समझ नहीं सका। बस, चुटकी लेने के लिए, पत्रिका को चर्चा में लाने के लिए मैंने वह लेख छाप दिया। सोचा कि ठाकुर भाई से प्रतिक्रिया लेंगे या वे स्वयं कुछ लिखेंगे तो हिन्दी–गीत जगत के रचनाकारों का ध्यान इस ओर जाएगा और मेरे पत्रिका चर्चा में आ जाएगी। .... किन्तु ठाकुर भाई के कान में जूँ न रेंगी। लगा कि चोर की दाढ़ी में तिनका नहीं था। ठाकुर भाई की उदासीनता देख कर मैं सिटपिटाया रहा, कभी उनसे उस लेख का जिक्र छेड़ने का साहस नहीं जुटा पाया। यह तो बाद में जाना कि वे ऐसी शैतानियों से कहीं ऊँची शैतानियाँ किया करते थे।

यहाँ मुझे ठाकुर भाई की एक शैतानी याद आ रही है।

आज सही–सही याद नहीं पड़ता कि ये किस्सा ठाकुर भाई से ही सुना था, चन्द्रदेव सिंह से सुना था या अवध बिहारी श्रीवास्तव से!

ठाकुर भाई के निकट सम्पर्क में रहे चन्द्रदेव और अवध बिहारी, दोनों ही ख़ासे मस्त तबियत के लोग हैं।

किस्सा कुछ यों है कि जौनपुर के हिन्दी कवियों में दो बड़े नाम रहे हैं – एक डॉ. श्रीपाल सिंह क्षेम और एक रूप नारायण त्रिपाठी। इनमें आपस में बनती कम थी।

हमारे यहाँ कहा गया है कि 'चोर–चोर मौसेरे भाई' किन्तु जब पढ़े–लिखे विद्वानों के आपसी सम्बन्धों पर कुछ कहा गया तो, कहा गया – '*मुंडे–मुंडे मतिर्भिन्ना*'। शायद इसलिए डॉ. क्षेम और पं. रूप नारायण में पटती कम थी।

ठाकुर भाई वाराणसी के थे। पड़ोसी जनपद के। तो इन्हें एक बार उचंग आयी और जौनपुर के दोनों महान कवियों को पोस्ट कार्ड लिखकर गंगा के किनारे सुदूर किसी ऐसी जगह के कवि–सम्मेलन में आमंत्रित कर दिया जहाँ शाम को एक बस जाती थी और सुबह वही वापस आती थी।

डॉ. क्षेम को लिखा कि अमुक तारीख को फलाँ जगह आयोजित कवि–सम्मेलन की अध्यक्षता आपको करनी है, कृपया इस आयोजन की चर्चा रूप नारायण जी से न करें। उधर रूप नारायण जी को लिखा कि कवि–सम्मेलन की अध्यक्षता आपको करनी है और कृपा कर इसकी चर्चा डॉ. क्षेम से न करें।

दोनों कवि निश्चित तिथि पर घर से चले। निर्दिष्ट स्थान के लिए शाम को चूँकि एक ही बस जाती थी सो बस–अड्डे पर भेंरा गए। सामने पड़े तो औपचारिक अभिवादन हुआ पर बातचीत नहीं हुई कि कहाँ–क्यों जा रहे हैं।

दो तीन घण्टे बस चल कर गंगा–किनारे उस जगह पहुँची जहाँ तथाकथित कवि–सम्मेलन होना था और दोनों ही कवियों को अध्यक्षता करनी थी। यह टरमिनस वह था जहाँ से लोग नावों पर सवार हो गंगा पार करते थे। उस पार गाँव थे पर इधर कोई गाँव–बस्ती नहीं थी। मात्र एक अस्थायी–सी चाय–पकौड़ी–पान–बीड़ी की दुकान थी।

बस के अन्य यात्री उतर कर चले गए तो चाय–पान के दुकानदार ने अपना सामान समेटा, भोजन किया, ढिबरी बुझाई और सोने की तैयारी करने लगा। बस के कण्डक्टर–ड्राइवर रात्रि–भोजन साथ ले जाते। खा–पीकर वे भी बस में सोने की तैयारी करने लगे।

इन दोनों ही कवियों के चेहरों का रंग उस क्षण देखने योग्य रहा होगा। इन्होंने एक–एक प्याला चाय पी थी। दाँव समझ तो गए थे फिर भी दुकानदार से कवि–सम्मेलन के बारे में पूछा तो उपहास के पात्र बने...... कोस–दो कोस तक कोई बस्ती ही नहीं तो कवि–सम्मेलन कैसा?...... इनका माथा ठनका, बातचीत में इस नतीजे पर पहुँचे कि किसी ने हमारे साथ गहरा मज़ाक किया है। .... तत्काल लौटने का कोई साधन नहीं।....... मरता क्या न करता? .... सो इन दोनों कवियों ने जैसे–तैसे जाड़े की वह रात बस में काटी।

गीत कवि प्रेम शर्मा की एक पंक्ति है –

'दुख में सब एक वचन, कोई नहीं दूसरा!'

दोनों ही कवि बातें करते–करते इस नतीजे पर पहुँचे कि – 'हो न हो ये शैतानी ठाकुर प्रसाद सिंह की है।'

सुबह उसी बस से लौटकर ये लोग जौनपुर पहुँचे। घर नहीं, दूसरी बस पकड़ कर सीधे वाराणसी गए। ठाकुर प्रसाद सिंह की तलाश में। ठाकुर भाई भला इनके हाथ क्यों आते? वाराणसी से नदारद।

वाराणसी के अनेक साहित्यिकों को ये चिकाही पता थी। जो मिलता ठाकुर को खोजने का सबब पूछता।..... ये दोनों कवि भला क्या बताते कि ठाकुर को क्यों खोज रहे हैं! बहरहाल, ठाकुर भाई वाराणसी में नहीं मिले।

आगे चल कर, महीने–दो महीने बाद ठाकुर भाई का वक्तव्य सामने आया – 'भाई, इन दोनों कवियों की आपस में बनती नहीं थी इसलिए हमने इन्हें एक निर्जन स्थान में रात भर बतियाने का अवसर दिया कि जो ग़लतफ़हमियाँ हों दूर कर लें। कहिए, इसमें क्या गलत है?'

तो ऐसे जीवन्त, चुहलबाज थे ठाकुर भाई! .... कैसी रसमयी छेड़–छाड़ करते थे!

ऐसी ही चुहलबाजियों, छेड़खानियों और शैतानियों से भरा पड़ा है ठाकुर भाई का जीवन। कभी किसी साइकिल का पंक्चर बनाने वाले को नागानंद मुक्ति कण्ठ बना दिया और भिजवा दीं उसकी कविताएं 'माध्यम' के लिए डॉ. बाल कृष्ण राव के पास। कविताओं के साथ जो कवरिंग लेटर गया वो उसी से लिखवाया कि – "प्रिय बाल कृष्ण राव, माध्यम

देखता रहता हूँ। अपनी इधर की कुछ कविताएं भेज रहा हूँ। आशा है स्वस्थ–प्रसन्न हो। सस्नेह, नागानंद मुक्तिकण्ठ!"

जब काशी के इस तथाकथित कवि को प्रयाग से राव साहब का पत्र मिला (स्वीकृति–पत्र) तो भूचाल–सा आ गया। त्रिलोचन से लेकर बुद्धिनाथ तक ने जान ली होगी ये खुराफात।

शिखर की यात्रा

● डॉ० विजय अग्रवाल

रोहतांग पास अधिक नहीं, केवल बारह हजार फीट की ऊंचाई पर ही है। लेकिन जब बंद खिड़कियों वाली गाड़ी से उतरकर धरती पर पैर रखा, तो वहां शोर मचाती हुई, बदतमीज़ी करके बढ़ती हुई तेज़ हवाओं ने वहां के सन्नाटे को अधिक सन्नाटा, बल्कि भयावह सन्नाटा बना दिया। 'शोर में सन्नाटा' ठीक महानगर की जीवनचर्या के समान है, जैसे – भीड़ में अकेला। सोचता हूँ कि रोहतांग पास तो शिखर नहीं था। यदि यहां ऐसा है, तो फिर शिखर का सन्नाटा कैसा होगा!

लोगों की चहल–पहल से तड़के से ही चहचहाने वाली सड़कें आज दीपावली की सुबह शांत थीं—करीब–करीब सुनसान–सी ही। आंगन में आ गई छाया–के समान ही मन के अंदर हल्की–सी उदासी भी उतर आई थी। कहीं–कहीं यह अपराध बोध भी कि त्योहार के दिन मैं क्यों मनाली में हूँ।

सुनसान सड़कों ने एक अज़ीब तरह का सन्नाटा बुन दिया था मेरे अंदर। मैंने अपनी निगाहें फेरीं और टिका दीं सामने के शिखर पर। ख़ैरियत थी कि जहां मैं रुका था, उसकी सामने वाली शीशे की खिड़की से हिमालय की बर्फीली चोटी साफ–साफ दिखाई पड़ती थी। वह इतनी नज़दीक जान पड़ती कि यदि एक तेज दौड़ लगाई जाए, तो वहां तुरंत पहुंचा जा सकता है। लेकिन मेरे दादाजी की बात मुझे याद है। उनकी सफेद लटकती हुई दाढ़ी मानो बर्फ से ठकी नुकीली चोटी के समान ही थी। मेरे दादा कहा करते थे– "शिखर दिखते नज़दीक हैं। पर वहां पहुंचना उतना ही अधिक, बल्कि सबसे अधिक कठिन है, बिज्जु बेटा।"

तब से ही शिखर के इस छली–स्वरूप ने मेरे मन में यथार्थवादी रूप धारण कर लिया है। मैं समझ गया था कि उसका सम्मोहक रूप कहानी की बुढ़िया जादूगरनी की तरह

ललचाता है, बुलाता है और जब कोई उसके बुलावे पर चल देता है, तो फिर चलता ही रहता है, लेकिन पहुंचता कभी नहीं। हर बार यही लगता है कि "बस! अब पहुंचे, अब पहुंचे।" इसी आशा में जीवन–भर चलता ही जाता है। इसलिए मैंने अपने पिता की यह सीख गांठ बांध ली थी कि–"बड़े बनो, लेकिन महत्वाकांक्षी नहीं।"

जब आपके चारों ओर सन्नाटा हो, तो शिखरों पर व्याप्त सन्नाटे की कल्पना आपके अंदर एक अज़ीब तरह की खामोशी के साथ–साथ एक भय भी पैदा कर देती है – शायद उस सन्नाटे में हमेशा–हमेशा के लिए चुप हो जाने का भय। रोहतांग पास अधिक नहीं, केवल बारह हजार फीट की ऊंचाई पर ही है। लेकिन जब बंद खिड़कियों वाली गाड़ी से उतरकर धरती पर पैर रखा, तो वहां शोर मचाती हुई, बदतमीज़ी करके बढ़ती हुई तेज़ हवाओं ने वहां के सन्नाटे को और अधिक सन्नाटा, बल्कि भयावह सन्नाटा बना दिया। 'शोर में सन्नाटा' ठीक महानगर की जीवनचर्या के समान है, जैसे – भीड़ में अकेला। सोचता हूं कि रोहतांग पास तो शिखर नहीं था। यदि यहां ऐसा है, तो फिर शिखर का सन्नाटा कैसा होगा! – डरावना, रोमांचक या उदात्त। उदात्त–अर्थात् एक ऐसा सन्नाटा, जिसमें आपके अंदर का सब कुछ ग़ायब हो जाता है। और फिर नये सिरे से जो नया उपजता है वह उन्हीं शिखरों की तरह ऊंचा और धवल होता है।

निश्चित ही शिखर उदात्त का ही रचयिता होता होगा। यदि ऐसा नहीं होता, तो भला भगवान शिव क्यों कैलाश पर्वत के शिखर पर निवास करते! 'शिव' अर्थात् 'कल्याणकारी', 'शिव' अर्थात् जिसने लोक–कल्याण के लिए विषपान किया, विषपायी बने। निपट औघड़–न कपड़ों की चिंता, न खाने की। चिंता है तो केवल विश्व–कल्याण की। वे चाहते तो ब्रह्मा की तरह आकाश में रह सकते थे। चाहते तो विष्णु की तरह दूध के सागर में रह सकते थे। लेकिन नहीं, उन्होंने चुना–हिम से आच्छादित शिखर। उन्हें न तो आधारहीन आकाश रुचा, और न ही समुद्र। वायु और जल–दोनों नहीं। उन्होंने चुना–जल के ठोस रूप को, जहां वायु निश्चिंत होकर वांछित रूप से अनवरत नर्तन करता है।

कैलाश शिखर, यानी कि जमा हुआ जल, जमता रहता जल। यदि पिघल भी जाए तो कोई बात नहीं। फिर जम जाएगा। शिव ने कैलास शिखर को चुना, ताकि वे हमेशा पिघलकर बहने की नैसर्गिक प्रक्रिया को अपने अंदर उतार सकें। पिघलो! पिघलकर, निचुड़कर दलित द्राक्षा की तरह बहो। जमे मत रहो एक स्थान पर जड़ चट्टान की तरह। चलते रहो, पिघलते रहो। जमना अपने लिए होता है। पिघलना औरों के लिए होता है। सुख लुटाने में, शांति बहाने में है – संग्रह में नहीं, जमाने में नहीं। बहो! बहना जीने की निशानी है। यह जीवन शक्ति की निशानी है। बहना समर्पण भी है। इस खोज और इस समर्पण का ही परिणाम है–नदियों का समुद्र में मिलना। इस बहने का ही तो परिणाम है – बूंद का धारा में, धाराओं का नदी में और अंततः नदी का समुद्र में तबदील हो जाना। यही तो समष्टि में समर्पण है। यदि बहोगे नहीं, तो कहीं पहुंचोगे कैसे? यदि बहेगा नहीं, तो क़तरा दरिया कैसे

बनेगा। यही तो है कैलाश के शिखर की अनोखी विशेषता। वह दिखता नहीं, लेकिन अंदर ही अंदर बहता रहता है। यही है शिखर का समुद्र से मिलन।

वस्तुतः समुद्र क्या है? शिखरों के बहाव का संकलन ही तो है समुद्र। भूगोलवेत्ता तो यही बताते हैं कि जहां आज समुद्र है, वहां पहले कभी बर्फ के पहाड़ हुआ करते थे। लेकिन पिघलने की क्रिया ने उन्हें जड़ से चल बना दिया। जो पिघलेगा, वह 'चल' बनेगा ही। जो पिघलकर बहेगा, वह पहुंचेगा ही। पहुंचना क्या है? पहुंचना रुकना नहीं हैं। पहुंचना समाप्त हो जाना भी नहीं है। पहुंचना तो एक नयी यात्रा की शुरुआत करता है – एक लक्ष्य तक पहुंचकर फिर एक नये लक्ष्य की ओर बढ़ना। 'पहुंचना' मंजिल में विलीन होकर फिर से अपने आपको ढूंढ़ना है, फिर से अपने–आपको पाना है। अपने–आपको खोना ही अपने–आपको पाना है। 'शिव' ने ताउम्र अपने आपको लुटाया है। अभी भी लुटाए ही जा रहे हैं। क्यों? ताकि अपने–आपको पा सकें।

शिखर पर सीधे नहीं जाया जाता। घुमावदार सर्पीले सड़कों से होकर गुजरना पड़ता है वहां पहुंचने के लिए। रोहतांग पास पहुंचकर यदि नीचे की ओर झांके, तो ऐसा लगेगा मानों कि कोई लंबा भुजंग कुंडली मारकर चुपचाप पसरा हुआ हो। जब आप गाड़ी से इस सर्पीले रास्ते पर भाग रहे होते हैं, तब आपकी एक ओर होते हैं–शिखर तथा दूसरी ओर होती है–गहरी घाटी। घाटी में झांकने पर मन में भय की लहर दौड़ जाती है। यदि जरा भी चूके, तो सीधे घाटी में। किसी को अन्दाज़ भी नहीं होगा कि कुछ अप्रत्याशित घट गया है वहां पर। इतनी जोखिम भरी है शिखर की यात्रा। यह राजपथ की सुगम यात्रा नहीं। यह जनपथ की पगडंडियों वाली 'शार्टकट' यात्रा भी नहीं है; बल्कि यह तो गहरी घाटियों के किनारे पूरी सतर्कता से की जाने वाली बहुत जोखिमभरी यात्रा है। आपके सामने लक्ष्य बिल्कुल साफ होना चाहिए कि कहां पहुंचना है। द्वंद में रहकर आधे–अधूरे मन से दूसरी कोई यात्रा भले ही की जा सके, लेकिन शिखर की यात्रा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि वह तो 'तलवार को धार पै धावनो है' जैसी यात्रा है। स्पष्ट लक्ष्य, और उस लक्ष्य की ओर बिना थके, बिना रुके अनवरत रुप से बढ़ते चले जाना पड़ता है। मन पर लगाम लगानी पड़ती है। मस्तिष्क के चारों ओर कंटीला बाड़ा बनाना पड़ता है और शरीर को एक विशेष सांचे में ढालना पड़ता है। इतना सब कुछ करने के बाद ही यात्रा पर निकलना चाहिए।

कहीं तो घाटियां सूखी थीं, लेकिन अधिकतर वे नम ही थीं। उन घाटियों की गोद में मचल रही थी–एक पतली धार वाली नदी–विपाशा। चमक ऐसी, मानो कि तलवार की धार चांद की किरणों की संगत पाकर खिलखिला रही हो। पानी इतना ठंडा कि देखने से ही आँखें जम जाएं और साफ ऐसा कि मन का सारा कलुष ही धुल जाए। शायद अपने इन्हीं गुणों के कारण उसका नाम पड़ा है–विपाशा, अर्थात् बंधनों से मुक्त करने वाली। जिन नदियों का जीवन शिखर से जुड़ा हुआ है, उन सभी में मोक्ष–दायिनी की यह अद्‌भुत शक्ति छिपी होती है। वह स्वयं कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करती, बल्कि यहां तक कि वह तो एक क्षण के लिए भी आराम तक करने के लिए नहीं रुकती – निरंतर प्रवहमान। लेकिन दूसरों को इस भव के

आवागमन से हमेशा–हमेशा के लिए मुक्त कर देती है–अनंत विश्राम के लिए। विपाशा के इस उदात्त गुण की बात सोचते–सोचते अनायास ही हरिवंशराय बच्चन जी की कविता की ये दो पंक्तियां याद आ जाती हैं–

"स्वयं नहीं जाता, औरों को
पहुंचा देता मधुशाला।"

सचमुच, उदात्तता का यदि पतन भी होता हे, तो वह कितना महान होता है। 'विपाशा' एक तरह से शिखर का पतन ही तो है। लेकिन जब कुछ भी द्रवित होता है, तो बहना उसकी अनिवार्य नियति बन जाती है, बल्कि यह कि बहने में ही उसके अस्तित्व की सार्थकता है। अन्यथा रुका हुआ द्रव्य गंधाने लगता है। इसलिए विपाशा कभी रुकती नहीं। उसमें इस बात का अफसोस दिखाई नहीं पड़ता कि वह शिखर से धरातल पर आ गई है। उसमें इस बात का न तो अपराधबोध है और न ही आत्मग्लानि। सच तो यह है कि वह इसे अपना पतन मानती ही नहीं, बल्कि जीवन का एक अनिवार्य चरण मानती है। फिर वह शिखर से अलग भी कहां है? उसे जीवन–दान तो वहीं के द्रवित होते कणों से मिल रहा है। इसलिए इसकी भी उदात्तता ज्यों–की–त्यों बरकरार है। मैं सोचता हूं कि यदि यह नदी शिखर का पतित रूप ही है, तो फिर यह पतन ही बेहतर है। यह पतन अधिक व्यावहारिक है। हम शिखर को तो नहीं छू सकते, लेकिन उसके पतित रूप को तो छू सकते हैं।

शिव शिखर पर रहते हैं – अकेले। 'अकेलापन' भयभीत करता है आदमी को, इसलिए वह कभी भी अकेला नहीं रहना चाहता। लेकिन शिव हैं कि वहां अकेले हैं। हां, उनकी पत्नी ज़रूर उनके साथ हैं। वे तो अर्द्धांगिनी हैं। उन्हें तो साथ रहना ही है; नहीं तो आधे रह जायेंगे शिव। इसलिए सामान्य गणित के हिसाब से शिव और पार्वती मिलकर दो हुए। लेकिन चेतना के स्तर पर, यहां तक कि अस्तित्व के स्तर पर भी वे एक ही हैं–केवल शिव, केवल कल्याणकारी।

क्या वे वहां शिखर पर अकेले रहकर कभी ऊबते नहीं होंगे? शायद नहीं, तभी तो वहां न जाने कब से जमे हुए हैं, और न जाने कब तक जमे रहेंगे। कोई संभावना नहीं है उनके वहां से डिगने की। लगता है कि जो 'शुद्ध' होगा, त्रुटिरहित होगा, उसे अकेले ही रहना पड़ेगा। कौन साथ देता है भला सत्य का, शुद्ध का। दुनियावी लोग तर्क देते हैं कि स्वर्ण में भी बिना खोट मिलाए वह सुन्दर आभूषण नहीं बनता। इस तर्क के परिणामस्वरूप स्थिति आज यहां आ पहुंची है कि सोने के नाम पर खोट के ही आभूषण बनने लगे हैं। यह तो चरित्र ही होता है खोट का। अर्थशास्त्र में भी कहा गया है कि "खोटा सिक्का खरे सिक्के को प्रचलन से बाहर कर देता है।" यदि अशुद्धता की थोड़ी–सी भी गुंजाइश छोड़ी गई, तो धीरे–धीरे सब कुछ अशुद्ध होता चला जाता है। शिव शुद्ध हैं, 'परफेक्ट' हैं। जिसमें जितना अधिक 'परफेक्शन' होगा, वह उतना ही अकेला होगा, अलग–थलग होगा। इसीलिए शिखर भी अकेले होते हैं।

लेकिन इस तरह का अकेला होना अकेले होकर भी अकेला रहना नहीं होता। यह अकेले रहना अपनी सम्पूर्णता के साथ रहना होता है। जबकि जो लोग भीड़ में रहते हैं, वे अपने–अपने टुकड़ों के साथ रहते हैं, खण्ड–खण्ड में रहते हैं। यदि कोई अपनी सम्पूर्णता में रहे, तो फिर अकेलापन कैसा? यदि कोई अपनी पूर्णता में रहे, तो फिर अभाव कैसा? और यदि अभाव नहीं है, तो अंसतोष भी नहीं है, अशांति भी नहीं है। सब कुछ बिल्कुल शांत, चिरंतन मौन की तरह। शिखर को देखकर मुझे लगा कि मेरे पिता सचमुच बिल्कुल सही कहा करते थे–

"संतोषी बनो, और शिखर की तरह ऊंचे बनो।"

मेरी इस यात्रा ने उनके शब्दों को चित्ररूप और भावरूप – दोनों रूपों में सजीव कर दिया। मेरे लिए यह यात्रा एक भौतिक यात्रा से अधिक एक मानसिक यात्रा बन गई – विचारों की उत्कृष्टता की यात्रा।

भगतसिंह के अप्राप्त पत्र और दस्तावेज़

● प्रमोद त्रिवेदी

भारतीय साहित्य में पत्र–साहित्य पर बहुत कम कार्य हुआ है। आम तौर पर पत्र–साहित्य को साहित्य मानने का रिवाज़ भी हमारे साहित्य में कम ही है। यूरोपीय देशों में पत्र–साहित्य पर बहुत कार्य हुआ है। चाहे महापुरुषों के प्रेम पत्र हों या उनके आपसी वाद–विवाद के पत्र, प्रायः सभी प्रकार के पत्र प्रकाशित हुए हैं और उन पर पर्याप्त चर्चा भी हुई है। मेरा भी व्यक्तिगत रूप से यह मानना है कि पत्रों में मनुष्य प्रायः अपना हृदय खोल कर रख देता है बशर्ते कि वह बहुत चतुर राजनेता न हो या कोई खतरनाक कूटनीतिज्ञ। साहित्यकारों के पत्र प्रायः भावनाओं से ओतप्रोत, संवेदनशील और दिलचस्प हुआ करते हैं। यूं पत्र–साहित्य बहुत प्राचीनकाल से उपलब्ध है और पत्रात्मक शैली में लिखे काव्य, महाकाव्य और ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। मेघदूत जैसे अनेक काव्य इसके अच्छे उदाहरण हैं। इधर हिन्दी साहित्य में पण्डित जवाहरलाल नेहरू द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कुछ पुरानी चिट्ठियां' पत्र–साहित्य में एक बेहद ही महत्वपूर्ण कृति है। जिसमें पण्डितजी ने अपने विरोधियों के पत्र भी पूरी ईमानदारी और शिद्दत के साथ शामिल किये हैं।

हिंदी साहित्य में मेरी नज़र में श्री मदनगोपाल एवं श्री अमृतराय द्वारा सम्पादित 'प्रेमचन्द्र की चिट्ठी पत्री' स्व. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की 'फाईल एण्ड प्रोफाइल पण्डित', सूर्य नारायण व्यास का पत्र–साहित्य, 'पत्रांजलि' चार खण्डों में शीघ्र प्रकाशित हिन्दी में संभवतः अब तक पत्र साहित्य का सबसे बड़ा भण्डार है। फिर 'बच्चन के पत्र' आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'निराला के पत्र', 'हजारी प्रसाद द्विवेदी के पत्र' नेमिचंद जैन और मुक्तिबोध के बीच का पत्र–व्यवहार 'पाया पत्र तुम्हारा', क्रांतिकारियों के पत्रों पर

आधारित पुस्तक 'याद कर लेना कभी' तथा सरदार भगतसिंह के पत्रों पर आधारित एकमात्र उपलब्ध पुस्तक 'पत्र और दस्तावेज', संपादक विरेन्द्र सिंधु–अब तक उपलब्ध पुस्तकों में महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है, हालांकि जगमोहन और चमनलाल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'भगतसिंह और उनके क्रांतिकारी साथियों के दस्तावेज़' भी उपलब्ध है, मगर उसमें भी और विरेन्द्र सिंधु की पुस्तक में भी पत्र और दस्तावेज़ कालक्रम से नहीं दिये गये जिसके चलते बहुत से पत्र असंमजस भी पैदा करते हैं, शोध और अनुसंधान के रास्ते में रुकावट भी पैदा करते हैं। अनेक अज्ञात और अनुपलब्ध पत्रों को खोजी विद्वानों ने खोजने का प्रयास भी नहीं किया। निवेदित ग्रथ 'मैं भगतसिंह बोल रहा हूँ' भगतसिंह समग्र का ही एक तरह से दूसरा खण्ड है। पहले खण्ड में भगतसिंहजी की जीवनी, उनके द्वारा किया अनुवाद, उनके द्वारा लिखी हुई भूमिका, स्वयं भगतसिंह द्वारा लिखा गया अपने क्रांतिकारी मित्रों का परिचय शामिल होगा। खण्ड दो में सरदार भगतसिंह के लिखे दुर्लभ पत्र, दस्तावेज़ तथा क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास शामिल होगा। इस दृष्टि से यह खण्ड बेहद महत्वपूर्ण होगा। क्या है इन पत्रों में, भगतसिंह का ईमानदार और सच्चा चेहरा अंदर से बेहद कोमल, संवेदनशील, मानवीय करुणा के विलक्षण अनुगायक, अपनी संपूर्ण तेजस्विता, अपने अंदर की समस्त आग के साथ बेहद प्यारा, भोला–भाला और क्रांति का जीता–जागता प्रतीक भगतसिंह मौजूद है।

आमतौर पर क्रांतिकारियों को छुपकर ही काम करना होता था और उस ज़माने में अपने आपको व्यक्त करने का कोई दूरदर्शन या सैटेलाइट चैनल का माध्यम तो नहीं था, जो कुछ उपलब्ध था वह था रेडियो, चंद गिने–चुने अखबार, रेडियो या ब्रिटिश शासन के अधीन उनका भौंग चौंग बना हुआ था, अंग्रेजों का ढोल पीटना उसके कर्त्तव्यों में शामिल था, इने–गिनेचुने अख़बार थे, उनमें से कुछ पूंजीपतियों के चुंगल में तो कुछ अंग्रेजों की जी हजूरी में मशगूल थे। हाँ, कुछ लोग अवश्य थे इस दौर में भी, जो घर फूंक तमाशा देखने वालों की तरह अपना सर्वस्व राष्ट्र को अर्पण करने के लिए अपनी सम्पदा को लुटाकर भी अखबार निकालते थे। उन चंद अखबारों में स्व० गणेश शंकर विद्यार्थी जी का 'प्रताप' रामरिख सैहगल का 'चांद, भविष्य अभ्युदय', सूर्य नारायण व्यास का 'विक्रम', आगरा से निकलने वाला दैनिक और बनारस का 'आज' या इन्द्र विद्या वाचस्पति के संपादन में निकलने वाला, 'वीर अर्जुन' लेकिन इसमें भी क्रांतिकारी अपने मूल नाम से कहाँ लिख पाते थे।

अतः पत्र लिखना ही एकमात्र विचारों के आदान–प्रदान का माध्यम था। यूं सरदार भगतसिंह इस मामले में एक अर्थों में परम सौभाग्यशाली हैं कि उन्होंने खुद ही 'प्रोपेगण्डा बाई डैथ' मृत्यु द्वारा प्रचार का रास्ता चुना था। अपने युग के सभी तत्कालीन राजनेताओं से छोटे होने के बावजूद वैचारिक दृष्टि से इन सबसे आगे की सोच रखने वाले इन महान् विचारक ने यह कर भी दिखाया। उन्हें मालूम था कि अखबार रेडियो में हमारे लिए कोई

जगह नहीं हैं, बल्कि सारा तंत्र हमें फॉसिस्ट, चोर–डकैत और आतंकवादी घोषित करने में लगा हुआ है। उसके बावजूद भगतसिंह बराबर कभी अपने नाम से, कभी गुप्त नाम से अपने तथा अपने क्रांतिकारी साथियों पर लगने वाले बेबुनियाद आरोपों का मुंहतोड़ जवाब दिया करते थे। इसके दो सबसे महत्पूर्ण उदाहरण हैं गांधीजी के 'यंग इण्डिया' में लिखे हुए लेख 'फिलॉसफी ऑफ नॉन वायलेंस' अंहिसा का दर्शन के जवाब में भगतसिंह का लिखा हुआ लेख 'फिलॉसफी ऑफ द बम' बम का दर्शन और 'मॉडर्न रिव्यू' में रामानन्द चट्टोपाध्याय की क्रांतिकारी विरोधी टिप्पणी और इंकलाब को फासीवाद का नारा बताने पर भगतसिंह का करारा ज़वाब 'इंकलाब के मायने क्या हैं' जो उसी पत्र में प्रकाशित हुआ, आज उपलब्ध है। मगर इसके बावजूद अनेक गुप्त नामों से लिखे असंख्य पत्र, दस्तावेज तथा लेख आज इतिहास की काल–कोठरी में गुम हो गये या फिर जिसके हाथ जो लगा या जो जीवित रह गया उसने उसे अपने नाम से मड़वा दिया। 'चांद' के फांसी अंक में सरदार भगतसिंह द्वारा श्री कृष्ण, बलराम, अर्जुन, सिपाही और सैनिक नाम से लिखी अपने क्रांतिकारी मित्रों की जीवनियां इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण हैं। फिर भी यदि अदालत में भगतसिंह अपना केस स्वयं लड़ रहे थे और चूंकि उनके पास पर्याप्त समय था क्योंकि उन्होंने स्वयं अपना केस इतना लंबा खींचा था जिससे वे अपनी सारी बातें अदालत में कह सकें। अपने बयान और अपने विचार भी आम आदमी तक पहुंचाना चाहते थे। कुछ अखबार अदालत की कार्यवाही पर नियमित खबर छाप ही रहे थे। तो कुछ अखबार सरदार भगतसिंह के अदालत में दिये बयानों को भी नियमित प्रकशित कर रहे थे। उनमें 'अभ्युदय' और 'वीर अर्जुन' जैसे अखबार शामिल थे।

इन सारे पत्रों को एक जगह लाने का कार्य किया गया है राजशेखर व्यास के संपादन में प्रवीण प्रकाशन दिल्ली से तीन खण्डों में प्रकाशित ग्रंथ "मैं भगतसिंह बोल रहा हूँ" में।

उस अरण्य में एक वानीर वृक्ष

• प्रभाकर श्रोत्रिय

पूर्णशंकर का जन्म 15 फरवरी 1922 को मालवा के एक कस्बे शाजापुर में हुआ। जब किशोर नरसिंहगढ़ में सन् 1940 में सातवीं कक्षा में पढ़ने गया था, तब वहाँ की राजामाता ने एक काव्य-सभा में (शायद बहुत सुन्दर कविता पढ़ने के कारण) उसे 'नरेश' उपनाम दिया। पूर्णशंकर को यह ऐसा भाया कि उसने इसे ही अपना नाम बना लिया—नरेश कुमार मेहता; जो आगे जाकर 'श्री नरेश मेहता' के नाम से विख्यात हुआ।

पिता पं. बिहारीलाल मेहता तहसील में नायब रजिस्ट्रार थे—'साधारण वेशभूषा, खाँसी, गौरवर्ण के बाएँ हाथ पर काला-सा मस्सा, सारी दुनिया से निरपेक्ष।' नरेश के शब्दों में यही थे पिता, तीन भाइयों में सबसे बड़े। उनसे छोटे शंकरलाल मेहता धार स्टेट में हेडमास्टर थे। सबसे छोटे पं. रामनारायण जी 1914-15 में नरेश के जन्म से पहले ही समुद्र में नहाते हुए 'गोलोकवासी' हो गये थे। शेष बचे दोनों भाई स्वभाव, व्यक्तित्व और रहन-सहन में उत्तर-दक्षिण....

नरेश की माँ श्रीमती सुंदरबाई मेहता बिहारीलाल जी की तीसरी पत्नी थीं। दो पत्नियों का निधन होने पर, वंशवृद्धि के लिए उन्होंने अनिच्छा से तीसरा विवाह किया था। परंतु परिणीता की इच्छा भी जीवन में रहने की कहाँ थी? वह पुत्र को जन्म देकर, यानी अपना कर्तव्य कर, स्वर्ग सिधार गईं। नरेश तब डेढ़-दो वर्ष के थे। स्मरण के लिए माँ की कोई छवि नरेश की आँखों में नहीं थी—बस एक तीव्र बोध था, जो अपने खिंचाव में भीतर के सूनेपन का लगातार सघन करता था।

बड़ी माँ से नरेश को एक बहन थी—श्रीमती शांति देवी जोशी। वे नरेश जी की अत्यंत आत्मीय और माँ तुल्य थीं। परंतु उनकी मृत्यु भी प्रसव पीड़ा में 1932 में हो गई थी, उस समय नरेश दस वर्ष के थे।

जिस घर में इतनी स्त्रियों की मौतें हुई हों, वह कितना 'अरण्य' लगता होगा!

घर में पितामह की एक विधवा बहन थी, जिसे नरेश 'माँ' कहते थे और उसने 'घर को घर बनाए रखने की पूरी चेष्टा' भी की हुई थी—तब भी नरेश को वह स्त्री—हीन घर लगता था। इस निचाट सूनेपन को महसूसते शिशु—मन के भीतर पनप रहे किसी एकाकी कवि की आहट सुनी जा सकती थी—जो सोचा करता था कि 'हमारे आँगन में क्यों साड़ियाँ नहीं सूखतीं, जैसी लोगों के घरों में सूखती हैं।' जिन्होंने पारंपरिक मालवा में घर—आँगन के दृश्य जिये हैं, वे शिशु—मन के इस बिंब में छिपी टीस से द्रवित हुए बिना नहीं रहेंगे।

यदि नरेश मेहता के साहित्य का अध्ययन केवल इस दृष्टि से किया जाए कि उनके एकाकी, मातृहीन, शिशु—अनुभव का रूपांतरण उनके साहित्य में किस रूप में हुआ, तो वह एक मनोवैज्ञानिक और सृजन की अंतर्क्रिया का मार्मिक अध्ययन होगा।

...तो, बाहर जो था, वह घर तो नहीं था, इसलिए शिशु 'अपने भीतर एक घर कल्पना में, रात—दिन बनाता रहता था।' एकाकीपन की यह कल्पना—वृत्ति रवीन्द्रनाथ में भी थी, परंतु भरे—पूरे सम्पन्न घर में एकांत पालने में बैठा बालक रवीन्द्र परीलोक के सपने देखता था, जबकि नरेश के सपने में आता था एक अदद घर—जिसमें माँ थी, दूसरी माँओं की तरह लाड़ करती हुई। यह एक शुद्ध लौकिक और ज़रूरी स्वप्न था, जो यथार्थ में कई बार चाहत बन कर रह जाता तो कई बार पीड़ा बनकर—'चचेरे भाइयों को पढ़ने जाते समय माताएँ कितना कुछ बना कर देती थीं, उसे देख कर लगता था कि इस आत्मीयता से मैं वंचित हूँ। उन चीजों में मैं भी थोड़ा बहुत हुआ ही करता था, परंतु मेरा शिशु—मन समझने लगा कि यह मेरा अधिकार नहीं है।' मातृहीनता नरेश की कितनी बड़ी ग्रंथि रही है और मौके—बे—मौके किस कदर सालती रही है, उन्ही के शब्दों में देखें—'शादी ब्याह के अवसर पर जब स्त्रियाँ मेरी मातृहीनता पर तरस खाती थीं तो मैं और भी अकेला हो जाया करता था।' लेकिन वात्सल्य का थोड़ा आभास मिलने पर नरेश की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन, बुद्धि और आत्मा भी तृप्ति और आस्वाद से भर उठती थी—'मुझे 'आगर' (शाजापुर के पास एक कस्बा) की एक काकी निरंतर अपने निकट खड़ी दिखती है। उनके पति साधारण पटवारी थे। उस वस्तुहीन गृहस्थी में अलंकार शून्य ही नहीं, बल्कि तागे में बमुश्किल पिरोकर काले दानों मंगलसूत्र वाली एकवस्त्रा उन काकी माँ के यहाँ जा कर मेथी की भाजी के स्वाद के साथ उनके श्यामवर्ण व्यक्तित्व का जो परम स्वाद आज तक मुझे सुगन्धित करता है, श्रोत्रिय जी, वह अकल्पनीय हैं।' कहते—कहते भर आते नरेशजी इस आत्मगत सघनता के एकांत बोझ को जैसे स्वयं पर से उतारने के लिए सूक्तिमत्ता का सहारा लेते हैं—'ऐसा सुना जाता है कि अवतारी व्यक्तित्वों के स्वत्व से सुगंध आती है, हो सकता है, परंतु मुझे लगता है कि परम साधारणता में भी सुगंध होती है। ऐसा परम साधारण, न वस्त्र, न परिधान, न टीम—टाम—कुछ नहीं होता है। वह तो वनस्पतियों की साधारणता वाले वर्ण—गंध की भाँति उपस्थित है।' यही 'साधारणता की सुगंध' नरेश मेहता के असाधारण चरित्रों को लोक—सामान्य

भूमि पर उतार लाती है, जहाँ वे साधारण के संगी हो जाते हैं, अलग ऊपर खड़े नहीं दिखते—यहाँ तक कि राम—सीमा भी—'प्रवाद पर्व' में आप इसी भाषा में राम को सीता से बतियाते सुन सकते हैं :

हम
इतिहास की केवल वनस्पतियाँ भर हैं
हमारे चलने से सीता
थोड़ी—सी धरती सुंदर हो उठती हैं,
हम
संभवतः एक छोटी—सी सुगंध वहन कर सकते हैं
बस
इससे अधिक कुछ नहीं

(पृ. 63)

पथ ही रहा बंधु जिसका

1930 में नरेश को काका शंकरलाल मेहता धरमपुरी ले गये। (उन्होंने संतान हीन होने के कारण नरेश को गोद ले लिया था)। इस समय नरेश की उम्र कोई 6 साल की थी। शंकरलालजी पहले हेडमास्टर रहे, बाद में तहसीलदार हो गये थे। नियति देखिए यह भी स्त्रीविहीन घर था। क्योंकि काका स्वयं तो विधुर थे, उनकी एकमात्र पुत्री बचपन में मर चुकी थी और घर के ढेरों नौकर चाकरों में कोई भी स्त्री न थी।

नरेश के व्यक्तित्व का हिस्सा बन गया अकेलापन यहाँ आकर और गाढ़ा हो गया। वह बालक के बोध में ऐसा उतर गया कि उसे हर चीज अनाथ, अकेली दिखने लगी—यहाँ तक कि नर्मदा की धारा भी। नरेश सोचता 'पहाड़ियों से बहती नर्मदा कितनी अकेली है!' जबकि धरमपुरी का नर्मदा तट अत्यंत भरापूरा, मनमोहक था। जब नरेश का अकेलापन सृजन में बदला, तब उनके लिखे उपन्यास 'नदी यशस्वी है' में चित्रित यही नर्मदा और यह अंचल अपनी पूरी समृद्धि में जगरमगर हुआ। इससे प्रतीत होता है कि सृजन ही नरेश को अकेलेपन से उबार सकता था।

'शाजापुर' मालवा में था और 'धरमपुरी' निमाड़ में। निमाड़, लू से तपती कड़ियल ज़मीन, तो मालवा सरसब्ज; सब ऋतुएँ सुहानी, संयत। ऐसा ही काका और पिता का स्वभाव था। काका थे जुझारू, शौकीन और बहुभाषा—कला के मर्मज्ञ। पिता सहज, सरल, निस्संग और हठी। नरेश मेहता में अगर मालवा और निमाड़ मिल गये थे तो पिता और काका का विपरीत स्वभाव भी। डॉ. सुशील राकेश से बात करते हुए नरेश जी स्वीकारते हैं 'मैं अपने सारे व्यक्तित्व में अपने पिता श्री बिहारीलाल जी मेहता और चाचा श्री शंकरलाल जी मेहता

का विपरीत मिश्रण देखता हूँ। मेरे पिता अत्यंत शांत, विनम्र, संतोषी वैष्णव थे, जबकि इसके विपरीत चाचाजी का सारा व्यक्तित्व एक उदार सामंत का–सा था–दबंग, उत्सव प्रिय, नरेश मेहता के भीतर द्वारा उनके उत्सवी व्यक्तित्व की दी गयी यह झलक इस तथ्य को भली–भाँति उजागर कर सकती है : 'उत्सव उनके जीवन का प्रमुख वादी स्वर है, जिसमें उनके जीवन का सुख–दुःख, भाव–अभाव, राग–विराग, तृष्णा–वितृष्णा, उतार–चढ़ाव, मान–अपमान की विभिन्न राग–रागनियों की रागदारी संपन्न होती रही है। ...जब नरेश मेहता के चारों ओर कई प्रकार की आग लगी हुई थी, वे उसके बीच औत्सविक भाव से बैठे 'उत्सवा' की रचना कर रहे थे। ... मूसलाधार बरसात में टपकती, झरती छत के कोने में बाल्टी रखकर तथा घर के सब कटोरे–कटोरी रिसती छत के नीचे इधर–उधर रखकर तख्त पर घुटने तक चादर ओढ़े मुझे और बच्चों को पास बैठा कर, ज़ोर–ज़ोर से 'उद्धव शतक' सुनाने लगते है। कुछ तो उद्धव शतक के मार्मिक प्रसंग और कुछ इनके पढ़ने का ढंग...। ... किसी सामाजिक अवसर पर बीस–पच्चीस वर्ष पुराना एकमात्र सिल्क का कुरता और धोती पहन कर, और मैं (महिमा जी) कलफ लगाकर, दो पेड़ों के बीच बांधी गयी सूती साड़ी पहनकर पहुँचते तो उपस्थित लोग कानाफूसी करते... देखो क्या आनंद भाव से राजा–रानी चले आ रहे हैं। (ऐसी सजी, सुंदर जोड़ी देख लोग भला और क्या कहते?)। नरेश जी में सज्जनता, निश्छलता, अपरिग्रह था तो स्वाभिमानी और ठसकदार संभ्रांत भाव भी, जिसमें कहीं, किसी भी स्तर की दरिद्रता नहीं; था तो एक ऊँची आत्मा का ऊँचा चेहरा फ़कत।

नरेश जी की विशेषता थी कि वे संकटों, दुःखों में निराश नहीं हुए, बल्कि उनमें स्वप्न देखने की शक्ति आ गयी। सारे अनुभव और संस्कार उनके भीतर अपनी तरह से और अपने निर्देश में आये–पिता के अपरिग्रही संस्कार, काका के ब्रज, उर्दू, फारसी, संस्कृत–काव्य के साथ सामंती संस्कार, अनेक बंगाली, गुजराती, उत्तर प्रदेशी माओं के संस्कार, पितामह के आध्यात्मिक संस्कार। सबको नरेश ने अपने अनुसार व्यक्तित्व के भीतर आने की अनुमति दी, बल्कि उन्होंने अपनी विपन्नता से भी अपने ढंग से संपन्नता के संस्कार ग्रहण किये। वे मानते हैं कि उनके सूने जीवन में संपन्नता से भरापन उस विपन्नता की देन है जो किसी पात्र को नए जल से भरने के लिए खालीपन की हुआ करती है। जैसे–जैसे उनके 'व्यक्तित्व का पात्र सुखों से खाली होता गया, वैसे–वैसे नित नया जल भरता गया।' इतना ही नहीं वे अपने लेखक बनने का श्रेय भी इन्ही दुःखों को देते हैं। जिनसे बचपन से लगाकर मृत्यु तक वे टकराते रहे। उनके दुःखों से ही निकला है वह संसार जो उनकी रचनाओं में सौंदर्य, प्रेम, गरिमा और उदारत्ता बन कर विकसा है।

खैर, धरमपुरी से नरेश मेहता ने 1934–35 मे छठी कक्षा पास की। यहाँ इतनी ही पढ़ाई थी। आगे की पढ़ाई के लिए अपनी बुआ के पास नरसिंह गढ़ जाना पड़ा, जो शाजापुर के पास एक छोटा राज्य था। वहाँ से 1940 में नरेश ने मैट्रिक पास की। उनके पालन–पोषण व शिक्षा का खर्च चाचा ही देते थे। मैट्रिक के बाद की पढ़ाई के लिए नरेश उज्जैन गये।

शाजापुर और धमतरी के पास ही प्रसिद्ध नगर उज्जैन है, जो संस्कृति, धर्म और शिक्षा का केन्द्र रहा है। नरेश जी 1941 में माधव कॉलेज में भर्ती हुए, जो उज्जैन का सबसे बड़ा कॉलेज था, तब वहाँ इंटरमीडिएट तक की शिक्षा थी। उज्जैन में भी शिक्षा का पूरा खर्च चाचा ही देते थे। वे प्रतिमाह मनीआर्डर भेजते थे। एक बार मनीआर्डर के साथ उन्होंने कुछ तीखी बात भी भेज दी, नरेश ने न सिर्फ वह मनीऑर्डर लौटा दिया, वरन् बाद में भी कभी उनसे पैसा नहीं लिया। 'इतनी–सी' बात पर ऐसे नाराज़ हो उठना? लेकिन 'अश्वत्थ प्रजाति' के नरेश से यह संभव था–'हम आयु के अश्वत्थ/अपनी छाँह भी, हमको नहीं स्वीकार।'

नरेश मेहता ने उज्जैन में इंटरमीडिएट करते हुए स्वतंत्रता–संग्राम की राजनीति में भी भाग लिया। फलस्वरूप उनके नाम सन् 1942 में वारंट जारी हुआ। वे तो खैर इससे बच सकते थे, परंतु अपने पिता को बचाने के लिए उन्होंने अन्य छात्रों की भाँति अगली शिक्षा के लिए 40 कि.मी. दूर इन्दौर को न चुनकर, काशी को चुना। प्रमोद त्रिवेदी से बातचीत में यह रहस्य उन्होंने नवें दशक में खोला:

'चूँकि वह काल राजनैतिक गतिविधियों का था, मैं भी खुलकर राजनीति में कूद पड़ा। सन् 1942 के आंदोलन की सक्रियता के कारण मेरे नाम वारंट था और स्थिति यह थी कि अगर मैं मालवा में रह जाता तो मेरे पिताजी की नौकरी चली जाती।'

लेकिन काशी जाने का एक आंतरिक कारण नरेश मेहता की उच्चाकांक्षा भी थी। शिक्षा के लिए काशी जाना एक तरह से मुहावरे की हैसियत पा चुका था। उन्होंने पिताजी के सामने पढ़ने के लिए काशी जाने की इच्छा प्रकट की। पिताजी का वेतन साधारण था। उन्होंने इंटरमीडिएट पास होने के खुशी में 'ब्लेक बर्ड' पेन तो भेंट कर दिया था, (उन दिनों यह पेन काफी अच्छा माना जाता था।)

परंतु काशी जाने के प्रस्ताव पर जेब से 32 रु. निकाले और बोले कि 'मेरे पास कुल इतना पैसा है, और मैं प्रतिमास 20 रु. ही भेज सकता हूँ। अब आप चाहें तो बनारस जायें या जापान।'

ऐसी स्पष्टवादिता और असंगता पिता के स्वभाव का अंग थी। नरेश जी ने उनके बारे में बहुत ही दिलचस्प बात बताई–'हम पिता–पुत्र के बीच बड़ा औपचारिक संबंध था। उन्होंने भूल कर भी 'तुम' नहीं कहा होगा। हमेशा 'आप' ही कहा, मैं जब छुट्टियों में शाजापुर आता तो अपने काका सिद्धनाथ भट्ट के परिवार में ही ठहरता। कई दिन बीत जाते और जब पिताजी को किसी से मालूम होता कि मैं आया हुआ हूँ, या शाम को हवाखोरी के समय वे दिख जाते (तो) मैं अपने मित्रों को वहीं टेकरी या सड़क पर छोड कर पिताजी से मिलता तो वह कहते कि 'हाँ सुना है, आप कई दिनों से आये हुए हैं, कभी घर आइए।' पिता पुत्र के बीच इस अनोखे संबंध को रेखांकित करते हुए नरेश मेहता विचार–मग्न और भाव–प्रेरित से कहते हैं–'क्षोत्रिय जी! पचास से भी अधिक समय बीत गया, पर पिता जैसे व्यक्ति और

संबंध का ऐसा निरासक्त हो जाना मुझे आज भी घेरे रहता है। कई बार सोचता हूँ कि क्या वह साधारण थे? तीन–तीन पत्नियों से प्राप्त एकमात्र पुत्र के प्रति अनासक्त हो जाने वाला व्यक्ति क्या साधारण था? लोग पुत्र, कलत्र और संबंधों को पकड़े रहते हैं। मैं तो साधारण नहीं माना जाता, परंतु क्या मैं अपने एकमात्र पुत्र के प्रति ऐसा अनासक्त हूँ जैसा कि मेरे पिता थे?' यह कहते हुए न तो नरेश जी के और न ही मेरे सामने वह क्रूर यथार्थ था, जो बाद में घटित हुआ और जिसमें परीक्षा हुई उस 'पिता–दाय' की; या संस्कार की, जिसकी उपस्थिति हम तब तक अनुभव नहीं कर पाते जब तक ऐसी घड़ी हमारे सामने आकर खड़ी नहीं हो जाती।

नरेश जी ने चर्चा में कहा था कि 'पिता को समझने के लिए मुझे पिता को खोना पड़ा।' लेकिन तब शायद उन्हें पता नहीं था कि यह कथन अधूरा है। दरअसल कोई पिता ऐसा भी होता है जिसे बिना पुत्र खोए समझा नहीं जा सकता। ...वह बात बाद में। ...फिलहाल तो नरेश जी द्वारा अपने पिता के प्रति प्रकट ऐतिहासिक उद्‌गार को जारी रहने दिया जाये : 'सच तो यह है कि उन्होंने कभी भी, किसी तरह मेरे मार्ग में अपने सुख–दुःख को बाधा नहीं बनने दिया। उनका भाव यही था कि जाओ, यह पृथ्वी दान दी। अब तुम अपने पुरुषार्थ से इस पर जैसा निर्माण करना चाहो करो। क्या ऐसा नहीं लगता कि पिता ने अपने को नहीं, बल्कि अपनी संतान के सामने फैली बिछी पृथ्वी की विस्तीर्णता को ही देखा, कितना बड़ा मानस था उनका! कितने विरल होते हैं ऐसे पिता!' ऐसे व्यक्तित्व और व्यवहार का अपने लिए अनुवाद करते हुए नरेश जी आत्मालाप और विलाप के बीच कहीं होते हैं : 'हम अपने विशिष्ट होने का चाहे जितना नाटक या ढोंग कर लें, विश्व मानवता की बात कर लें, वैष्णवता, उदारता की चर्चा कर लें, परंतु हमारे संदर्भ में ये केवल शब्द हैं, व्यक्तित्व नहीं। परम दैन्यता में जीवन व्यतीत करने वाले इन साधारण जनों के पास भले ही हमारे जैसी भाषा न हो, परंतु वास्तव में तो ये ही मूर्त वैष्णव होते हैं, मनुष्य होते हैं।'

आगरवाली काकी हो या पिता–नरेश जी के लिए ये साधारण के भीतर असाधारण की उद्‌भावना थे। 'साधारण में असाधारण' और 'असाधारण में साधारण' की आवाजाही नरेशजी के साहित्य में कई–कई बार देखी जा सकती है। तो वह देखना भी जरूरी होगा कि क्या यह उनका जीवनानुभव ही तो नहीं, जो रचनाओं में रह रहकर उतर आता था। ऐसे व्यक्तित्व अनुपस्थिति में भी नरेश को सदा अपने पास खड़े हुए लगे। इतने पास कि स्वयं नरेश जी के व्यवहार और व्यक्तित्व में रागात्मकता, निर्वैर, और निस्संगता एकमेक हो गयी। हमारे समय की एक महत्त्वपूर्ण लेखिका राजी सेठ नरेश जी के निकट जब जाती हैं तो शायद यही सब पाती हैं :

'जब भी नरेश जी से मिलना हुआ, लगा एक रचनाकार में अनिवार्य रूप से दीखती अशमित बैचेनी उनमें गायब है। उनकी शांत, शालीन, सौम्य मुखमुद्रा का उस उदग्र, संशयी, सन्नद्ध चेता से कोई सरोकार नहीं। प्रायः वह दूर–दूर तक देखते रहते हैं और

सामने बैठने वाले को भी थोड़ा–थोड़ा उपलब्ध होते हैं। सृष्टि के ऐसा ही रहे होने की घटना को वह चुपचाप देखते से रहते हैं। रचनाकारों के बीच वह रचने में नहीं, तो रचनावृत्त में होने की संसिक्ति के समझे जायें, ऐसी कोई व्यग्रता उनमें क्यों नहीं है?[1]

नरेश मेहता ने अपने पिता से जो पाया, जीवन से जो सीखा और उसे व्यक्तित्व में किस तरह अनूदित किया, वह सब अनूठा है। पिता से प्राप्त 32 रु. लेकर सन् 1943 में एक झोला लटकाए बीसेक साल के नरेश मेहता काशी चले। बीच में आया इलाहाबाद। लगा कि यह भी प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र है, तो वहाँ उतर पड़े। लेकिन उनके गँवई मन को वि.वि. की तड़क–भड़क जमी नहीं, फिर जेब में सिर्फ 4 रु. थे और भर्ती होने के लिए 40 रु. चाहिए थे। वे काशी चल पड़े। प्लेटफॉर्म पर उतरे–अनाम, अनाथ, अजाम दिक्! अकस्मात् एक व्यक्ति मिले, नाम–स्थिति–प्रयोजन जान कर घर साथ ले गये, कॉलेज में भर्ती कराया, होस्टल में कमरा दिलाया, आर्थिक, व्यावहारिक मदद करते रहे। ये थे पं. योगेश चंद्र मिश्र, पं. रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' के साले। नरेश ठीक कह रहे हैं–'जीवन के हर मोड़ पर एक–न–एक व्यक्ति उन्हें जीवन भर मिला।' उपर्युक्त मिश्र जी तो मिले ही, गुरुओं के रूप में पं. केशव प्रसाद मिश्र, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आचार्य नंददुलारे वाजपेयी आदि मिले। अद्वितीय साधक पं. गोपीनाथ कविराज का भी सान्निध्य मिला और आर्थिक संकट के दौर में पूर्णगिरि गोस्वामी जैसे सहृदय मित्र मिले। सहज सहयोग और बदले में यथा संभव भरपाई तो नरेश को रास आती थी, लेकिन दान नहीं। वे योगेशजी के यहाँ हर शाम कविताएँ सुनाते थे (संभवतः अपने मन में इसे उनकी सहायता के बदले श्रम मानते थे।) परंतु छात्रवृत्ति के लिए महामना मालवीय जी के पास नहीं जा सकते थे, भले ही उन्हें अय्यर के होटल से छह पैसे में खरीदे एक डोसे से कभी–कभी तीन–तीन दिन क्यों न निकालने पड़ें या फाके ही क्यों न करना पड़ें।

वे भारतीय संस्कृति एवं इतिहास में एम.ए. करना चाहते थे। बी.ए. में उन्होंने प्राचीन इतिहास लिया भी था इसके साथ अन्य विषय थे राजनीति शास्त्र और हिन्दी साहित्य। असल में हिन्दी कवि होने के कारण हुए संपर्कों के परिणाम स्वरूप उन्हें हिन्दी में एम.ए. करना पड़ा। जब वे नंददुलारे वाजपेयी के निर्देशन में पी–एच.डी. कर रहे थे, तभी वाजपेयी जी की नियुक्ति सागर वि.वि. में हो गयी। नरेश जी वाजपेयी जी के साथ नहीं गये, उनकी पी–एच.डी. छूट गयी। फिर वे अधिक दिन बनारस रहे नहीं।

वारावणी नरेश मेहता की नई काव्य–चेतना की भूमि रही, गीतों के एक प्रभावी वातावरण से टकराना पड़ा, वहीं सर्जकों से भेंट भी हुई। इसी समय वे काशी के 'आज' और 'संसार' में भी कुछ समय जुड़े रहे। नरेश जी काशी में अपने निर्माण का पूरा श्रेय पं. केशव प्रसाद मिश्र को देते हैं। वेदों के प्रति जिज्ञासा उन्हीं की कृपा से हुई। जब नरेश की नई कविता और खास कर उनकी नई काव्य–भाषा का विरोध हो रहा था, केशव जी ने उन्हें आर्शीवाद दिया था कि 'एक दिन बहुत बड़े कवि बनोगे। उनके इस आशीर्वाद से नरेश को

बहुत बल मिला। वे कहते हैं–'यदि गंगा न होती, काशी न होती, केशव जी न होते तो नरेश मेहना न होते।' वास्तव में केशव जी एक किंवदंती पुरुष थे, इतने विद्वान, प्रज्ञावान और सहृदय कि उस काल का उनके संपर्क में आने वाला, कोई प्रबुद्ध छात्र या विद्वान, उनसे अभिभूत हुए बिना नहीं रहा। वे वही केशव जी हैं जिनके यहाँ गंगा स्नान करने जाते हुए रास्ते में हजारी प्रसाद जी रुके और मिलकर, घाट की तरफ जाने की बजाये अपने घर लौटने लगे तो केशव जी ने पूछा कि आप तो गंगा स्नान करने जा रहे थे, तब हजारी प्रसाद जी ने कहा था 'हमने गंगा–स्नान कर लिया।' ऐसी त्रिगंगा (केशव, काशी, गंगा) से स्नात नरेश जब वापस हुए होंगे तो क्या से क्या होकर!

काशी–शिक्षा–काल की दो अंतर्कथाएँ :

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के शिक्षा–काल में नरेश जी का अंग्रेजों की भारतीय सेना में, वार कमीशन के अंतर्गत (शायद 1944 में) भर्ती हुए। उन्हें ट्रेनिंग के लिए देहरादून भेजा गया। वे सेकेंड लेफ्टिनेंट बनाए गये। इसी रूप में वे मध्यपूर्व के फ्रंट पर भेजे जाने वाले थे। लेकिन इसके लिए कुलपति डॉ. राधाकृष्णन की अनुमति न मिलने से उन्हें वापस लौटना पड़ा; हालाँकि एक महत्त्वपूर्ण वस्तु खोकर–जिनकी चर्चा आगे।

साहित्य के छात्र और कवि होकर मिलिट्री में भर्ती होने जैसी विपरीतता के बारे में जब मैंने उनसे पूछा तो नरेश जी ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आत्म–स्वीकृति दी, इससे उनके साहित्य को समझने में मदद मिलती है :

'मुझमें बहुत सारी विरोधाभासी बातें मिल जाएँगी। संतत्व और मिलिट्री दोनों में कोई समानता नहीं है, परंतु विपरीत ध्रुवों वाले ये दोनों मुझे सदा आकर्षित करते रहे हैं।' 'संशय की एक रात' के राम कहीं नरेश जी के इसी विरोधाभास से तो नहीं जन्में हैं :

> दो सत्य
> दो संकल्प
> दो–दो आस्थाएँ–
> व्यक्ति में ही अप्रमाणित व्यक्ति पैदा हो रहा है
> कौन जाने
> अप्रमाणित व्यक्ति में भी
> अन्य आसित हों।

लेकिन मिलिट्री में जाना यूँ ही नहीं हुआ था, इसकी एक रोचक पृष्ठभूमि थी, जो नरेश जी की तत्कालीन निरीहता से लड़ने की गर्वीली चेतना को अजाने प्रेरित कर रही थी :

'बात द्वितीय विश्वयुद्ध से थोड़े पहले की है, शायद सन् 34–35 रहा होगा। इटली ने अबीसीनिया (आज का इथोपिया) पर आक्रमण कर दिया था। यूरोप में हिटलर और मुसोलिनी के अभ्युदय ने भावी समर की स्थिति पैदा कर दी थी। शाजापुर से धरमपुरी जाते हुए महू पड़ता था। महू में अंग्रेजों की काफी बड़ी और महत्त्वपूर्ण छावनी थी। जब कभी महू

में इन अंग्रेजों को मैं कवायद करते या बग्घियों में सवार या फुटबाल खेलते देखता तो मेरा शिशु व्यक्तित्व आश्चर्य चकित रह जाता। अंग्रेजों ने भी भावी समर की संभावना की तैयारी के लिए मानपुर–गूजरी के बीच की विंध्याटवी को चुना। उस तैयारी को मैंने बहुत पास से पूरे समय देखा था, अतः उसका गहरा असर मुझ पर पड़ा। इसीलिए जब काशी विश्वविद्यालय में यू.ओ.टी.सी. में ट्रेनिंग की बात आयी तो मैं शामिल हो गया।'

युद्ध के अनुभवों से हिन्दी रचनाकारों में या तो अज्ञेय गुज़रे थे या नरेश मेहता। विश्व साहित्य में ऐसा उदाहरण टॉलस्टाय का है जिन्होंने एक लंबा काल सेना में बिताया था। इन युद्ध के सिपाही रचनाकारों में एक बात समान है : ये जीवन और रचना में अत्यंत कोमल, संवेदनशील, करुण, उदात्त और कट्टर युद्ध विरोधी रहे हैं, साथ ही इनका रचना–फलक वैश्विक रहा है। ये बातें भले ही अन्य रचनाकारों में भी रहती रही हों, परंतु युद्धानुभव और कल्पना से उपजी अभिव्यक्ति में अंतर होता है। अपने प्रारंभिक रचना–काल में सिर्फ नरेश मेहता 'समय–देवता' जैसी कविता क्यों लिख सके, इस सवाल का उत्तर पाने के लिए प्रश्नकर्ता को इसी युद्धानुभव में से होकर जाना होगा। समय देवता, संशय की एक रात, प्रवाद पर्व, पिछले दिनों नंगे पैरों और अनेक कविताओं, गद्य–रचनाओं में युद्ध संबंधी चिंताएँ, युद्ध की विद्रूपताएँ, शास्त्रों की टंकार, युद्ध का परिवेश आदि के पीछे उनके सेना संबंधी अनुभवों का ज़बरदस्त हाथ है।

...मूल्यवान खोकर मिलिट्री से लौटने की चर्चा पहले हुई है। वह वस्तु थी नरेश मेहता का पहला उपन्यास 'ट्रेंचेस के पीछे।' वह सेना से वापसी के समय जब्त कर लिया गया। यह कृति फिर कभी नहीं लिखी गयी। एक नए लेखक की पहली रचना की भ्रूण हत्या हो गयी। नरेश जी से मैंने पूछा कि फिर आपने यह उपन्यास क्यों नहीं लिखा?' तो कहने लगे–'जीवन भर तो रोज़–रोज़ का पसीना माथे पर से पोंछने में बीत गया...एक के बाद एक...समय ही नहीं मिला।' मैंने कहा कि जो हुआ, हुआ। अब लिख दीजिए, ऐसे स्वानुभव कहाँ मिलते हैं, तो कहने लगे–'अब शायद वैसी मानसिकता नहीं रही।' इस रचना के साथ तो यह और भी सच था, लेकिन जो उत्साह, सघन और उष्ण अनुभव इससे जुड़े थे–उन्हें फिर उपलब्ध करना संभव नहीं था शायद। और अगर नरेश फिर से वह लिखते तो कृति वही होती भी नहीं।

खैर, 'ट्रेंचेज़ के पीछे' की जब्ती के पीछे भी एक कहानी थी। एक मेजर सा. नरेश मेहता से नाराज़ हुआ करते थे, क्यों इसका पता स्वयं नरेश मेहता को नहीं था। एक बार तो उन्होंने जान बूझ कर उनका कोर्ट मार्शल करा दिया। नरेश मेहता के शब्दों में :

'एक रात मैं शस्त्रागार की ड्यूटी पर था। दिसंबर की कड़कड़ाती सर्दियाँ थीं। चारों और कुहरा था। उस कुहरे में मुझे किसी के आने की आहट मिली। मैंने सावधान किया, कोई उत्तर न मिला। नियमानुसार तीन बार सावधान किया, उस व्यक्ति ने कोई उत्तर नहीं दिया। सामान्यतः लोग 'फ्रेंड' कहते हैं या यदि अफसर होता है तो वह गार्ड पर रोशनी

फेंकता है। चूँकि ये दोनों ही नहीं हुए, तो मैंने अपनी रायफल में बैनेट फिक्स की और चार्ज करने के लिए बढ़ा। शायद बैनेट की थोड़ी–सी नोक चुभी। आगंतुक वहीं मेजर था। उसने मुझ पर रोशनी डाली, तो मैंने रायफल 'साँरी' कहते हुए हटा ली। ...कोर्ट मार्शल की तैयारी हुई।' यह अलग बात है कि विश्वविद्यालय का छात्र होने के कारण नरेश को सिर्फ दो दिन की बी.सी. (कनफाइनमेंट टु बैरक) की सजा मिली।' यह प्रसंग जानना कुछ इसलिए ज़रूरी है कि नरेश जी की कई कविताओं और उपन्यासों में एक भयावह अनुभव और आतंक के संकेत हैं। उदाहरण के लिए 'पिछले दिनों नंगे पैरो' के शीर्षक और अंतर्वस्तु मे ये ध्वनियाँ पढ़ी जा सकती हैं।

बौद्धभिक्षु

इसी बीच, यानी वाराणसी के शिक्षा–काल में, 1945 में नरेशजी बौद्धभिक्षु भी बने और उन्होंने चीवर धारण किया। परंतु स्वभावतः विद्रोही होने के कारण वे बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में ज्यादा न रह सके। नरेशजी के इस बारे में विस्तार से नहीं बताया, न कहीं लिखा। लेकिन सैनिक, बौद्ध भिक्षु, स्वाधीनता–सेनानी, कम्युनिस्ट, वैष्णव–कितने चोले पहने उन्होंने! और आश्चर्य कि कोई नकली नहीं था। इनके बीच आखिर क्या संबंध रहा होगा? एक तरफ अपनी रायफल में 'बैनेट फिट करते है' तो दूसरी तरफ उन्हें 'चींटी के आहत होते ही संहिता की हत्या–सा' लगता है। इसे कोई लेखक का विकास भी कह सकता है क्योंकि ये पंक्तियाँ 'उत्सवा' जैसी प्रौढ़ रचना की है; परंतु उनकी अनेक रचनाओं दोनों चीज़ें साथ–साथ आई हैं।

यों नरेश जी अपने विरोधाभासों को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते रहे हैं, परंतु ये क्यों हैं, इसके उन्होंने दो उत्तर दिए हैं–(1) जीवन के प्रति पिपासा का भाव व्यक्ति को अपने बाहर छलाँग लगाने की प्रेरणा देता। (2) 'जीवन के विविध अनुभवों के प्रति, मन में सदा से रही ललक' के परिणाम स्वरूप ये विरोध जन्मते हैं।

शासकीय सेवा–त्याग

जब वाराणसी से लखनऊ जाने का विचार किया तो उनके पास किराए के पैसे नहीं थे। कुंज गली में कुछ साहित्य प्रेमी व्यापारियों को कविता सुनाकर पारितोषिक के रूप में पाए 40 रु. से वे लखनऊ गये।

आर्थिक अभाव की मार ने रोजगार की तलाश शुरू की। माँ की अँगूठी गिरवी रख, दिल्ली जाकर आकाशवाणी की नौकरी के लिए इंटरव्यू दिया, फलस्वरूप लखनऊ में ही 1948 में वे आकाशवाणी पर कार्यक्रम अधिकारी बनाए गये। लेकिन उन्होंने ऐसे समय भी 'आ बैल मुझे मार' वाली आदत के चलते एक उल्टा काम किया। वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन गये और 1948 से 1955 तक बने रहे। उस समय कम्युनिस्ट होना बड़े जोखिम का काम था, ऐसा व्यक्ति शासकीय सेवा में संदिग्ध माना जाता था। नरेश जी के बारे में

भी संदेह उभरे, आरोप लगे। हालाँकि उनकी यह त्रासदी भी रही कि आर्ष–साहित्य में रुचि होने के कारण वे कम्युनिस्ट लेखकों के बीच भी संदिग्ध माने जाते रहे, जबकि कम्युनिस्ट होने की सारी प्रताड़नाएँ उन्होंने झेलीं।

एक साल बाद ही 1949 में वे इलाहाबाद भेज दिए गए। वहाँ से 1952 में उनका स्थानांतरण नागपुर हो गया। यहाँ उनकी मैत्री आकाशवाणी के साथी मुक्तिबोध से हुई। (मुक्तिबोध के काव्य में कम्युनिस्ट होने के कारण संदेह, भय आदि हॉरर बने दिखायी देते हैं) तो नरेश जी नौकरी और सन्देह, आदि का यह बोझ ज़्यादा दिन न उठा सके और 1953 में इस्तीफा देकर दिल्ली चले गये, पर दिल्ली में सुख कहाँ था। स्पष्ट है कि नौकरी उन्होंने राजनीतिक कारण से छोड़ी थी। तत्कालीन सूचना मंत्री बालकृष्ण केसकर ने उनसे राजनीति (यानी कम्युनिस्ट राजनीति) छोड़ने को कहा। यह नरेश जी ने मंजूर नहीं किया और नौकरी छोड़ देने का मार्ग चुना।

दिल्ली में नरेश जी ने कुछ समय ट्रेड यूनियन के पत्र 'भारतीय श्रमिक' का संपादन किया और 'कृति' जैसी साहित्य की युगांतरकारी पत्रिका शुरू की। दिल्ली रहते हुए अपनी आयु के 36वें वर्ष में उन्होंने 16 फरवरी 1957 को महिमा जी से विवाह किया, जो उम्र में उनसे कोई दस साल छोटी थीं। (उनकी जन्म तिथि जुलाई 1932 है।) विवाह के समय महिमा जी कानपुर में ज्वाला देवी विद्या मंदिर (इंटर कॉलेज) में प्राध्यापिका थीं। विवाह के बाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी, या नरेश जी ने छुड़वा दी।

यहीं एक प्रेम प्रसंग की चर्चा करना ज़रूरी है। जिसे रामकमल राय ने अपनी पुस्तक में दिया है। लखनऊ में नरेश जी का प्रेम एक महिला से हो गया था। प्रेम, विवाह की मंज़िल तक पहुँचते–पहुँचते रह गया। अंततः उस महिला ने आत्महत्या कर ली। नरेश जी को इससे गहरा आघात लगा। इस विफल और काव्य प्रेम की झलक उनके पहले उपन्यास 'डूबते मशगूल' नायिका रंजिता के निर्माण में नरेश जी ने भारी दुख झेला है और नायिका को भी खूब परेशान किसा है। संभवतः इसीलिए बाद में दिल्ली रहते हुए, नंदकिशोर भट्ट की पहल पर उन्होंने एक ऐसी महिला से विवाह किया जिससे परिचय तक न था और नरेश जी की इच्छा के विरुद्ध, वह सजातीय भी थी। क्योंकि नरेश जी अंतरजातीय विवाह करना चाहते थे। परंतु नरेश जी के जीवन में महिमा जी सौभाग्य की तरह आईं।

सृजन–यात्रा

डूबना ही हो तो, फिर प्रयाग में क्यों न डूबना!

दिल्ली में रहते हुए नरेश मेहता अपना सृजन नहीं कर पा रहे थे, सृजन–भूमि के रूप में वे संभवतः इलाहाबाद को उपयुक्त मानते थे। यदि लेखन कर्म के लिए उन्होंने रेडियों की अच्छी खासी नौकरी छोड़ दी थी तो दिल्ली छोड़ना कौन बड़ी बात थी!

दोस्तों ने खूब समझाया। स्टेशन पर श्रीकांत वर्मा, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल आदि छोड़ने आये थे। उन्होंने समझाया– "By going Allahabad, you are commiting suicide." नरेश जी ने कहा "Yes, but it is only human beings who commit suicide."

15 अगस्त 1959 को नरेश–महिमा मेहता इलाहाबाद स्टेशन पर उतरे। इस समय दोनों बेरोजगार थे, वे 1959 से 1985 तक उसी इलाहाबाद में रहे जहाँ बकौल नरेश–उनका सारा समय 'किसी जलते तवे से कम का नहीं रहा।' एक तरह से 'जीवन का संपूर्ण महाभारत' यहीं घटित हुआ। लगभग पूरा महत्त्वपूर्ण साहित्य, बच्चों का जन्म, शिक्षा दीक्षा, पत्नी की नौकरी और उत्सर्ग सब यहीं घटित हुए। संयोगवश लोकभारती जैसा प्रकाशन संस्थान भी उन्हें मिल गया, जो नरेश मेहता के लेखक का सहारा बना और स्वयं भी समृद्ध हुआ।

नरेश दम्पति के पास कोई परंपरागत संपदा नहीं थी, नरेश जी अपना रोजगार दिल्ली में और गरिमा जी अपनी नौकरी कानपुर में छोड़ कर आ चुकी थीं। ऐसी स्थिति में बेघर बेकार सपत्नीक एक नए शहर में चल उठना विचित्र जोखिम था। इलाहाबाद भोले नाथ–नरेश–का सुसराल, दक्ष का घर और 'उमा' (महिमा) का पीहर था। यज्ञ में अकेली उमा को ही नहीं, शंकर और शंकर–संतानों को भी दग्ध होना पड़ा। मगर किसी ने हिम्मत नहीं हारी। इलाहाबाद के जीवन, साहित्यकारों से संबंध, परिमल प्रकरण और बहुत सारी कटु–मृदु स्मृतियाँ नरेश जी ने अपनी अंतिम पुस्तक 'प्रदक्षिणा : अपने समय की' में दर्ज की है।

स्वतंत्र लेखन करने आये नरेश इलाहाबाद में दो साल तक कुछ लिख ही नहीं सके। आय का कोई साधन नहीं था, हाँ मित्र सुरेश अवस्थी ने केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की एक कमेटी में रखवा दिया था, जहाँ से बैठकों के 30–40 रुपए प्रतिमाह मिल जाते थे। मैंने नरेश जी से पूछा, 'इतने में घर चल जाता था?' तो बोले, 'हाँ चल ही जाता होगा काँखकूँख कर।'

उन दिनों सुमित्रानंदन पंत आकाशवाणी में चीफ प्रोड्यूसर थे, उनसे पं. वाचस्पति पाठक ने नरेश जी को रेडियो में रखने को कहा। पंत जी ने स्वीकार कर लिया और 2000 रु. माह की नौकरी का प्रस्ताव भेजा। इस संबंध में नरेश जी ने पत्नी से परामर्श का जो खाका खींचा, उसे सिर्फ संवाद में यूँ रखा जा सकता है :

'क्या करूँ?'

'मैं क्या बताऊँ मैं तो आपके पीछे–पीछे चलूँगी।'

'आप देख रही हैं दो वर्ष हो गये और मैं कुछ नहीं लिख पा रहा हूँ।'

'बस दो ही वर्ष तो हुए। नहीं, बीस वर्ष हो जायें, पर आप, स्वतंत्र लेखन ही करेंगे और लेखक बन कर दिखाएँगे। यदि नौकरी करनी करनी ही पड़ी तो मैं करूँगी। और फिर आप

किसके लिए करना चाहते हैं? क्या हमारे लिए? या आने वाले बच्चों के लिए? नहीं, यह नहीं होगा, आप लिखेंगे।'

'नौकरी कहाँ मिलेगी?'

'कोई भी नौकरी कर लूँगी। स्कूल में पानी पिलानेवाली दाई की नौकरी कर लूँगी।'

और महिमा जी ने कौल निभाया। उन्होंने 'किदवई मेमोरियल गर्ल्स इंटर कॉलेज' में 1961 में नौकरी की जो 31 साल तक जारी रही। यानी 1992 तक। इस बीच दोहरा काम, किराए के छोटे से घर में निर्वाह और फिर आर्थराइटिस (जोड़ों का दर्द) की असह्य वेदना आदि।

प्रसंगवश महिमा जी की जन्म भूमि सैलाना (मालवा) है। मालवा का स्वभाव जरा अड़ियल या हठी किस्म का है। बिना आगा–पीछा सोचे मालवी मानुष प्रतिज्ञा कर लेता है और उसका पालन करने में प्राणों की बाजी लगा देता है। महिमा जी ने यही किया–खुद जीवन भर नौकरी की, नरेश जी को नहीं करने दी। उधर मालवी नरेश मेहता के मन में जिद थी कि 'या तो मैं मालवा वापस नहीं जाऊँगा और गया तो कुछ बन कर ही जाऊँगा।' यही उन्होंने किया भी। वे जीवन भर मालवा जीते रहे, अपनी रचनाओं में, उसके रग–रेशे उतारते रहे, मगर मालवा रहने नहीं आए और आए तो सचमुच उतने बड़े लेखक बन कर, जितनी बड़ी प्रतिज्ञा न थी।

खैर, अपने लेखक पर पत्नी के इस अगाध विश्वास और लेखक बन कर दिखाने की तीखी–चुनौती ने नरेश मेहता की अवरुद्ध लेखनी का बांध तोड़ दिया और 'यह पथ बंधु था' उपन्यास के दिल्ली में लिखे 30–40 पृष्ठों पर दो सालों की धूल; पराग–कण हो उठी, रचना का वसंत खिल उठा, और नरेश जी का स्वतंत्र महत्त्वपूर्ण, वृहद् 600 पृष्ठों में मुद्रित उपन्यास केवल एक माह में पूरा हो गया। मानो लियो–नार्दो–दा विंची की 'द लास्ट सपर' कहानी दोहरा दी गई हो।

इसके बाद तो नरेश जी ने धड़ाधड़ पुस्तकें लिखीं। 1961 की गर्मियों तक उनके पास कोई सात–आठ पांडुलिपियाँ जमा हो गयी थीं। अब समस्या लिखने की नहीं छपने की थी। कोई भी प्रकाशक उन सबके लिए पाँच सौ से अधिक देने को तैयार नहीं था। महिमा जी माँ बनने वाली थी और घर में 'भूँजी भाँग' न थी। ऐसे में लेखकों के हितैषी और सहायक श्री वाचस्पति पाठक ने नरेश जी को 3000 रु. अग्रिम देने का प्रस्ताव किया, नरेश जी ने स्वीकार कर लिया। बाद में राजकमल, ज्ञानपीठ आदि के प्रस्ताव भी आये, पर नरेश जी दृढ़ प्रतिज्ञ थे। उन्होंने 300 रु. में सारी पांडुलिपियाँ पाठक जी के हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर को दे दी। फिर तो उन्हें 'लोकभारती प्रकाशन' स्थाई प्रकाशक के रूप में मिल गए।

जिस माह 'यह पथ बंधु था' लिखा गया, वह 1960 की मई का तपता हुआ माह था, जानलेवा गर्मी। नरेश कहते हैं–'हमारे पास ताड़ का एक पंखा ही था, पर महिमा जी गीला

कपड़ा बाँध कर हवा करतीं और मैं सामने फर्शी मेज गोदी में रख कर पूरी दोपहरी लिखता रहता।'

नरेश जी अपने जीवन की सफलता का 90% श्रेय अपने परिवार को देते हैं और यह ठीक ही है। महिमा जी का करिश्माई व्यक्तित्व नरेश जी की प्रेरणा–शक्ति रहा है। बच्चे भी कभी उनके लेखन में बाधक नहीं बने। बाबुल और बुलबुल ने उन्हें कभी लिखने के समय परेशान नहीं किया, न किसी कागज–पत्तर को कभी फाड़ा या इधर–उधर बिखेरा। एक लेखक के लिए यह पारिवारिक सहयोग कम मूल्यवान नहीं होता। अगर पत्नी या बच्चे असंतोष, असहयोग या अव्यवस्था बनाए रहते तो नरेश जी का लेखन संभव ही नहीं था उल्टे जीवन त्रास से भर जाता। वे ठीक कहते हैं कि 'मनुष्य सारी दुनिया से लड़ सकता है, परंतु परिवार से नहीं, क्योंकि परिवार से लड़ने का अर्थ है—अपना नरक निर्माण करना।' बच्चो को एक मसिजीवी लेखक के बच्चे बनाने में महिमा जी ने सच्ची शिक्षिका और माँ के बीच अपने को कैसे साधा होगा, यह शायद वे ही बता सकेंगी। मैं समझता हूँ कि नरेश जी को महिमा जी सही अर्थों में 'आत्मा की सहचर' मिली थीं जो पत्नी और प्रेमिका दोनों एक साथ थीं।

मालवा में वापसी

1985 में नरेश जी उज्जैन में संस्कृति विभाग के 'प्रेमचंद सृजन पीठ' पर अध्यक्ष बन कर आए। वे कदाचित जीवन और लेखन की थकन से कुछ विराम लेना चाहते थे, या अपने को नए सिरे से भरने के लिए खाली करना चाहते थे। सृजन पीठ वास्तव में सर्जक के लिए एक तरह से आदरपीठ थी, (कम–से–कम तब तक)। जहाँ रहकर वह सम्मानपूर्वक अपना लेखन और विश्राम दोनों कर सकते थे। नरेश जी को उज्जैन तब कितना रास आया था, इसका संकेत उनके निजी सहायक रणजीत सिंह बिष्ट के इस कथन से मिल सकता है कि 'पाँच वर्षों में मैंने उन्हें कभी बीमार पड़ते नहीं देखा।' रणजीत सिंह शायद यह भूल गये कि नरेश जी दमे के रोगी थे, इसलिए कोई दूसरा रोग उनके पास आकर अपनी बेइज्जती क्यों कराता? खैर नरेश जी 1985 से 1992 तक उज्जैन में रहे।

शमशेर बहादुर सिंह के बाद प्रेमचंद सृजन पीठ पर नरेश मेहता ही आये थे। यों नरेश और शमशेर दोनों मातृहीनता, स्वाभिमान और ज़िद में एक से थे। लेकिन शमशेर पानी जैसे तरल थे जबकि नरेश जी की तरलता, प्रेम या प्रबुद्धता के ताप के बिना पा सकना कठिन था, क्योंकि वहाँ तरलता हिम रूप में थी। इससे कुछ लोगों को गलतफहमी होना स्वाभाविक है। नरेश जी को बाहर से देखकर भीतर के लबालब स्नेह का अंदाजा लगाना मुश्किल था। शमशेर का पूरा जीवन आप स्वयं आवृत रहकर, अनावृत देख सकते थे। लेकिन नरेश को अनावृत देखने के लिए आपको अपना आवरण भी हटाना होता था। एक खास तरह की निस्पृहता, लंबा मौन, किसी को संबोधित न करने वाली सहज मुस्कान और उदात्त निस्संगता

लोगों को अभिमान की तरह भी लग सकती थी, क्योंकि बहुतों के अभिमान प्रकट करने का यह तरीका भी है। लेकिन नरेश जी जिस विराट सन्निधि को अपने भीतर साधे हुए थे, उसकी रक्षा वह मौन ही कर सकता था, इसीलिए जब खुलता था तो स्नेह–निर्झर जैसा उनकी आत्मीयता और विदग्धता–सहज ही सर्वत्र प्राप्य नहीं थी। वह आप से आत्मीयता, धैर्य, सरलता, मर्मज्ञता, प्रबुद्धता यानी पात्रता माँगती थी। उनका मौन, अभिमान नहीं, मनन था। लिहाजा शमशेर के प्रेमी उज्जैन के वे लोग जो दिखाई पड़ने वाली नम्रता, घुलनशीलता और भोले भंडारीपन को व्यक्तित्व की सरलता और श्रेष्ठता की कसौटी मानते थे, नरेश जी को कुछ और ही समझ बैठे–दिखावटी संभ्रांत। एकांतिक या असामाजिक, अभिमानी आदि आदि–जबकि उनके बीच सात वर्ष तक एक ऐसा श्रेष्ठ सर्जक विचरण कर रहा था जो विनयशील, निर्मल, उदात्त, संवेदनशील था, जो अपनी गंध से उनका परिवेश–उनके अनजाने भी–सुवासित कर रहा था। स्वयं नरेश जी के लिए तो शायद यह अच्छा ही रहा कि सर्जक के चिंतन, मनन, लेखन में ऐसे स्थूल हस्तक्षेप न हो सके जो होते तो शायद जी का जंजाल ही होते।

उज्जैन में नरेश जी ने अपनी तत्कालीन आरण्यकता से विलग होते हुए एक विशिष्ट काव्य–कृति रची 'पिछले दिनों नंगे पैरों।' इसके अलावा 'अज्ञेय' और 'मुक्तिबोध' जैसे दो ध्रुवों पर प्रबंध लिखे, जो सर्जनात्मक आलोचना के विरल उदाहरण हैं।

मुझे लगता है कि वे कृतियाँ लिखने के लिए नरेश जी को उज्जैन आना ही था। ये इलाहाबाद में रहकर संभव नहीं हो सकती थीं। इनके लिए जिस मुक्ति और एकांत की जरूरत थी, वह उन्हें उज्जैन में मिला। इसी में से नए प्रकार की, अपने से जुदा तेवर की और समावेशी और रचनाएँ संभव होती हैं। असीर गढ़ पर लिखी कविताएँ 'पिछले दिनों नंगे पैरों' नरेश में से नए नरेश के जन्म लेने की सूचना है, जबकि अज्ञेय और मुक्तिबोध पर एक साथ लिख सकने वाली संवेदना, निष्पक्षता और साहित्यिक शील उनके विवेचनात्मक गद्य की नई उपलब्धि है।

नरेश जी इन्दौर के दैनिक अखबार 'चौथा संसार' का संपादन करने के लिए सादर आमंत्रित किये गये। अखबार के मालिकों की तो नरेश जी क्या सुनते, कुछ साहित्यिक–स्नेहियों के आग्रह, हठ आदि के सामने झुकते हुए वे इन्दौर आ गये।

'प्रेमचंद सृजन पीठ' में कोई वैसा बंधन तो नहीं था, तब भी एक स्थान–बंधन तो था ही; और पाँच साल तक एक जगह प्रवास में रहना नरेश जी जैसे गतिशील व्यक्ति के लिए एक लंबा ठहराव था। स्थान और परिवेश के बदलाव के लिए नरेश जी ने अखबार का संपादन स्वीकार कर लिया होगा–पर सच तो यह है कि प्रभाकर माचवे के बाद नरेश मेहता जैसे स्वतंत्र लेखक को बुलाना एक प्रकार से अखबार की कुछ अतिरिक्त सहने की ही तैयारी जैसा लगता है। क्योंकि संपादन जैसा उनमें न कुछ था, न वैसा बरताव ही कर सकते थे। वे कार्यालय में बहुत कम जाते, प्रबंधन इसी से संतुष्ट था कि वे हैं और अखबार

में उनका नाम जाता है। सरोजकुमार ने उनके इन्दौर निवास पर एक अच्छी टिप्पणी की—'यहाँ रह कर भी इस तरह रहते हैं, मानो यहाँ नहीं रह रहे हों।' अगर यह कहें कि उन्होंने वहाँ अपने निवास का बोझ उसी तरह किसी पर नहीं डाला, जैसे भोज-पत्र पर बैठी शब्द-सरस्वती उस पर बोझ नहीं डालती।

उज्जैन रहकर वे 'ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाँही।' की तर्ज पर इलाहाबाद की याद करते रहते थे। इस पर सरोज कुमार की टिप्पणी कि 'इतिहास जिस तरह उनमें हिलोंरे भरता है, भूगोल नहीं।' नरेश जी पर सटीक और गहरी टिप्पणी है। नरेश जी ने 'चौथा संसार' की कथित संपादकी 1995 तक यानी 3 साल तक की, परंतु वे यहाँ 1998 तक रहे।

इन्दौर में रहते उन्हें 1992 में जीवन का सर्वश्रेष्ट प्राप्य 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' मिला, जो भारत का सर्वोच्च सर्जनात्मक पुरस्कार है। बेटे का विवाह भी उन्होंने इन्दौर से ही किया। अगर इन्हें संतुष्टि कहा जाए तो नरेश जी के लिए इन्दौर-निवास जीवन का सर्वाधिक संतुष्टि-काल था।

यह कहना यहाँ प्रासांगिक होगा कि ज्ञानपीठ ने नरेश जी जैसे कृती व्यक्तित्व को खोज कर सर्वोच्च पुरस्कार देने का जो निर्णय लिया वह उसकी गरिमा को बढ़ाता ही है। क्योंकि इसमें कोई शक नहीं कि नरेश जी हमारी भाषा के अद्वितीय रचनाकार हैं। इन्हें पुरस्कृत कर स्वयं ज्ञानपीठ ने अपनी निस्संग और उदात्त परंपरा का ही निर्वाह किया। परन्तु विगत पचास सालों में हिंदी साहित्य में जो संकीर्णता और विकृति आई है, जिसके कारण कई स्वाधीन चेता लेखकों का तटस्थ मूल्यांकन लगभग असंभव हो उठा है, उसने नरेश जी जैसे अनेक सर्जकों का अवमूल्यन और अपमूल्यन किया है। इस बार भी यही हुआ। नरेश जी को दिए गये ज्ञान पीठ पुरस्कार को इस तरह लिया गया, मानो कुछ हुआ ही न हो और यह कोई साहित्यिक घटना ही न हो। उल्टे पुरस्कार के संदर्भ में उनके विरुद्ध एक घटिया माहौल बनाया गया और बहुत सारे बौने व्यक्ति उनके बारे में मूर्ख टिप्पणी करने से बाज नहीं आए।

पुरस्कार मिलने के बाद, आज तक (और निधन के बाद भी) प्रायः बड़े समकालीन समीक्षकों ने उन पर नहीं लिखा, न कथित वामपंथियों ने और न कथित दक्षिणपंथियों ने। कुछ ने यहाँ-वहाँ लिखा भी तो ऐसे मानो कृपा कर रहे हों, बड़प्पन दिखाते हुए। क्या उनकी सर्जनात्मक विशिष्टता हर किसी पर बोझ थी? नरेश जी इतने संस्कारशील व्यक्ति थे कि वे ऊँची भौं के कथित लेखकों, बुद्धिजीवियों की कुकुरमुत्ता जमात पर निराला की तरह बरस नहीं सकते थे। ऐसी तमाम बातें वे हल्की सी व्यांग्यात्मक मुस्कान के साथ यह कहकर टाल देते थे—'चलिए, यह भी सही।'

लेकिन आज जबकि वे हमारे बीच नहीं हैं, हम निर्व्याज रूप से उनका दाय आंक सकते हैं, बशर्ते हिन्दी का कृतज्ञ समाज, कृतघ्न समाज से अधिक मुखर हो; ताकि सत्य, मिथ्या से अधिक भास्वर हो सके। नरेश जी ने पिता के निधन के बाद कहा था कि 'मुझे, पिता को जानने के लिए पिता को खोना पड़ा' संभव है आज नरेश जी को खोकर हम जान सकें कि हमने क्या पाया था?

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित नरेशजी को भोपाल में बसाने के लिए मध्य प्रदेश सरकार ने एक सुन्दर (और नरेश जी के लिए शायद स्वप्न जैसा) मकान दिया। हालाँकि इस नरेश जी ने काफी देर से ना नुकर कर स्वीकार किया। वे यहाँ 27 जुलाई 1998 को आये। इस आवास को नरेश जी ने अपना प्रिय नाम दिया 'फाल्गुनी'। संभवतः इस आवास में उन्हें जीवन के सबसे शांत, सुखी और स्थिर दिन बिताने की आशा रही होगी। बेटी विदेश में सपरिवार सुखी थी, बेटे के विवाह से निवृत्त हो चुके थे। साहित्य का सबसे बड़ा सम्मान प्राप्त हो चुका था–'और कौन–सा स्वर्ग चाहिए (एक कवि को) इस धरती पर?'

अपनी ही कसौटी दारुण

परंतु कृतांत ने नरेश जी के भाग्य में ऐसा सुखा लिखा ही न था। प्रसाद के शब्दों में अक्षरशः यह सुख 'सौदामिनी संधि–सा' ही उनके जीवन में क्षणभर को आया था। सत्य तो वहीं दुःख था, जो 'सुख' के इस पार और उस पार अँधेर के समुद्र की तरह जीवन भर गरजता रहा।

विवाह के एक माह बाद ही उनके लायक बेटे बाबुल का कार दुर्घटना में निधन हो गया। पुत्रवधू के लिए असह्य आघात, निढाल, बंजर भविष्य...। माता–पिता के लिए जीवन भर जारी अग्निहोत्र की पूर्णाहुति।

अस्ताचल समीप था... आगे जो देखना था वह जीवन में आये कतिपय सुख–क्षणों का उपहास करता था। नरेश जी की निरासक्ति–साधना की यह कठिनतम परीक्षा–बेला थी।

सामने युवा पुत्र का शव और आँसुओं से भीगा पुत्र–वधू–मुख–'वैधव्य तुषारावृता यथा विधु लेखा'... दूसरी ओर जीवन भर सारे संकटों पर भारी पड़ी, पर्वत–सी अडिग महिमाजी का कंपित गात... जड़ से हिल उठा हो जैसे पहाड़...

नरेश जी तख्त पर बैठे हैं–अचल, काष्ठवत्। स्वजन शवयात्रा की तैयारी कर रहे हैं। नरेश जी जैसे अपने से परे, नितांत अलग बैठे से। जब शव यात्रा में उनसे चलने को कहा गया तो बोले, 'सोचता हूँ कि मैंने अपने उपन्यासों में कितनी ही मृत्युओं का वर्णन किया–एक से एक मर्म बेधी, पर क्या एक लेखक के नाते मैं अपने ही पुत्र की मृत्यु पर लिख सकता हूँ? उल्लेखनीय है कि 'उत्तरकथा' में नरेश जी ने अनेक पात्रों की मरणोत्तर क्रिया का बहुत ही संयत और विधिवत् चित्रण किया है। मैं समझता हूँ कि मृत्यु को भी नरेश जी जीवनोत्सव की शृंखला में ही देखते थे। उनके कई पात्र, जिन्हें उन्होंने बड़ी तन्मयता से रचना है मृत्यु के इस पार्थिव अनुभव से निरासक्त गुजरे हैं।

ऐसा चित्रण हिंदी में कोई और लेखक शायद न कर सका। प्रसाद भी नहीं, वे मृत्यु के बारे में सिर्फ इतना कह सके :

> मृत्यु अरी चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी–सा शीतल
> तू अनंत में लहर बनाती काल जलधि की–सी हलचल

नरेश जी क्या सोच रहे हैं!

इस वक्त कोई पिता क्या ऐसा सोच सकता है—भले ही वह एक बड़ा लेखक हो? नरेश जी अपने को ही अपनी कठोर और निष्करुण कसौटी बना रहे थे। यज्ञ को ही समर्पित था एक यज्ञ :

यह कैसा यज्ञ
जहाँ यज्ञ भी यज्ञ को समर्पित है
यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् (उत्सवा)

पिता से अपने संबंधों को लेकर नरेश मेहता ने अपने आप से सवाल किया था कि 'वे अपने तीन–तीन पत्नियों से प्राप्त एक पुत्र के प्रति जितने निरासक्त थे, उतना क्या, अपने इकलौते पुत्र के प्रति मैं हो सकूँगा। क्या विचित्र है कि जैसे नरेश जी का ही कोई आत्मरूप उनके सामने एक तीखा और निर्दय सवाल कर रहा था। शाजापुर की टेकरी पर, कई दिन से आये पुत्र के मिलने पर वह पिता तो कह सकता था कि 'कभी घर आइए', पर यह पिता, यहाँ, श्मशान भूमि में कैसे पुत्र से कैसे कहे कि 'कभी घर आइए'।

इसके बाद नरेश मेहता की प्रसन्न सौम्यता, उदास सौम्यता में बदली नज़र आई; विचलन, अस्थिरता, विलाप जैसा वहाँ कुछ नहीं था, एक अरण्यानी में सांझ का उदास झरना था।

नरेश मेहता फिर ऐसा कुछ कथनीय लिख न सके। यह जीवन की शोकांतकी हो, ऐसा भी नहीं, वैसे भी लंबे जीवन के अस्ताचल में सर्जना का सीमांत आता ही है, आ सकता है। फिर भी हिम्मत थी। दु:ख की प्रेतछाया के परे निकलने का प्रयास था।

तभी जीवन संगिनी महिमा के स्तन–कैंसर का पता चला। चोट पर चोट पर चोट... दोनों को इस वक्स उस बंगले में एक साथ देखना—दो आहत उदासीनताओं को एक साथ देखना था, फिर भी इस नवागत विपत्ति से लड़ने की व्यस्तता थी। आखिर उन्होंने इस विपत्ति को भी परास्त किया। महिमा जी फिर विजयी हुईं।

पुत्र विहीन माता–पिता, पति–विहीन वधू का यह त्रिभुज परिवार कोहे–फिज़ाँ के शानदार परंतु उदास घर में एक–दूसरे को सहारा देते हुए जीवन के नए अर्थ तलाश रहा था। नरेश जी और महिमा जी चाहते रहे कि 'वंदना' का विवाह कर दें। वधू को बेटी बनाकर नए जामाता की या नए पुत्र की खोज में थे। यह घटित होता तो शायद यह भी नरेश मेहता के लिए काम्य उत्सव होता...क्योंकि जिस घाम में वे पलाश–सा उत्सव मनाने के अभ्यस्त रहे हैं, यह उसी की परिणति होता।

और अंत में....

स्नेहांत की भमकती लौ जैसी एक अर्से से सुप्त सृजन–वृत्ति, जाग गई थी। नया कुछ मन में था, जो जन्म लेना चाहता था। अगले दिन से लिखने की तैयारी थी। लिखने–पढ़ने का टीम–टाम सजा था। सृजन प्रतीक्षा में था...

22.11.2000 की रात के ग्यारह बजे थे, नियमानुसार नरेश जी ने टी.वी. समाचार देखे। सोने के पहले पलंग पर बैठे थे, एकदम सीधे महिमा जी आयी, मुस्करा कर यह कहते हुए कि "क्या सोच रहे हैं?" उन्होंने नरेश जी को हिलाया। वे लुढ़क पड़े।...

जीवन को ही नहीं मृत्यु को भी इस तरह कोई–कोई ही साधता है–योगी की तरह।..

स्त्री–विहीन घर में जन्मे नरेश मेहता घर में सिर्फ स्त्रियों को छोड़ गये। जीवन भी क्या विरोधाभास है...।

नरेश जी का जीवन दुख और दुर्भाग्य का ऐसा सरोवर था, जिसमें वे कमल की तरह जिए। डेढ़–दो साल की उम्र में माँ के देहांत से लगा कर, अपने देहांत के डेढ़ दो साल पहले पुत्र के देहांत तक की यह ट्रेजिक जीवन यात्रा रही। परंतु स्वयं उन्होंने उसे त्रासदी की तरह नहीं लिया। बंगला के उनके अनुवादक के.के. बैनर्जी ने कलकत्ता में उनकी शोक सभा में कहा कि 'नरेश जी हिंदी के रवीन्द्रनाथ थे।' मगर हिन्दी उनके बारे में चुप थी। नरेश जी बांग्ला में क्यों न हुए!

नरेश आजीवन अपने सर का पसीना पोंछते रहे एक मेहनत कश की तरह; और महिमा जी अक्षरशः चाकरी करती रहीं। जब पुत्र की मृत्यु, पत्नी का कैंसर आर्थिक विपन्नता और सृजन का अवरोध चारों ने एक साथ घेरा हुआ था, तब भी नरेश न कटु हुए न याचक। इतना कुछ झेल कर इतने निष्पाप, मधुर और प्रसन्न रहने वाले नरेश मेहता का व्यक्तित्व निश्चय ही विश्व के किसी भी महान रचनाकार से कम नहीं था। क्योंकि वे ऐसी भाषा के लेखक थे, जिसे स्वाधीनता अवहेलना और असम्मान के बीच मिलती है; जबकि रवीन्द्रनाथ इत्यादि अनेक लेखक उसे सम्मान और गुरुत्व की गरिमा के साथ पाते हैं।

उत्सव पुरुष का मरण भी उत्सव। मिलिट्री के सिपाहियों की कतार, राजकीय बैंड बाजे के साथ नरेश मेहता की श्मशान–सवारी। 21 तोपों की सलामी देने वालों में क्या वह मेजर भी था, जिसने नरेश मेहता का कोर्ट मार्शल कराया था?

कहानी

और वह एक स्त्री से एक व्यक्ति बन गई

● मोतीलाल जोतवाणी

पति अवाक् रह गया। ... उसकी पत्नी की इतनी हिम्मत कैसे हुई थी कि वह उस का प्रत्युत्तर देकर सामना करे? ... इतने में, एक औरत काली देबी का स्वांग रचकर मुँह से गत्ते की लाल जीभ निकालकर भिक्षा मांगने आई। पति ने उसे देखा और उसके दोनों हाथ उसे प्रणाम करने में बँध गए।

हम सैर–सफर के लिए मसूरी गए थे और हमें वापस मुम्बई पहुंचने के लिए देहरादून स्टेशन पर आकर वहां से रेलगाड़ी में जाना था। जैसे ही हम अपने आरक्षित शयनागार (स्लीपर कम्पार्टमेंट) में चढ़ने के लिए आगे बढ़े, तो हम ने देखा, उसमें स्त्री–पुरुष का एक युगल प्रवेश कर रहा था। स्त्री के दोनों हाथों में एक बैग और एक बिस्तर के दो नग थे और पुरुष के एक हाथ में टिकट था, जिसे देखकर वह शायद अपने आरक्षित शयनागार का निश्चय करना चाहता था और दूसरे हाथ में गाड़ी में काम आने लायक छुटपुट सामान का एक थैला था। हम गाड़ी के अंदर गए तो हमने देखा, वे दोनों डिब्बे के जिस हिस्से में आमने–सामने वाली दो जगहों पर—स्त्री एक ओर, तो पुरुष दूसरी ओर—बैठ गए थे। फिर वे एक दूसरे के बिलकुल आमने–सामने भी नहीं बैठे थे, मानो वे एक दूसरे से अलग–थलग स्त्री–पुरुष हों, स्त्री–पुरुष का युगल न हों। वे लगभग 30–32 सालों की हमारी जितनी उम्र के थे, परंतु देखने–भालने और कपड़े–लत्ते में हम से कहीं अधिक समृद्ध लगते थे।

कमला उस स्त्री के नज़दीक जा बैठी और मैं दोनों ओर की खाली जगहों की चिंता न कर कमला की ओर उसके पास वाली बाकी तीसरी जगह पर जा बैठा। इतने में उस पुरुष

ने उस स्त्री को, आखें ऊपर उठाकर, खूंटी पर टूंगे थैली की ओर इशारा किया और पीने का पानी मांगा। स्त्री ने अपनी जगह से उठकर उस थैले में से थर्मस निकाला और उसकी प्लास्टिक की कटोरी में पानी उंडेल कर उसे दिया। अब तो दोनों के व्यवहार से हमें लगा कि वे स्त्री–पुरुष आपस में पत्नी–पति हैं। हम झेंप–से गए कि भला, हम एक दूसरे से सटकर क्यों बैठे हैं? हम क्या नई तरह से पत्नी–पति हैं? यह सोचकर हम एक दूसरे से ज़रा सरककर बैठ गए। फिर भी हम एक दूसरे से कितना सरककर, कितना सरकते?

शीघ्र ही, डिब्बे के उस हिस्से में बैठने के लिए दो युवक भी जा पहुंचे और वे उस पुरुष की ओर खाली जगहों पर बैठ गए। अपनी–अपनी चुस्त व्यवहार और पहनावे से वे दोनों देहरादून के किसी प्राइवेट स्कूल की बड़ी क्लासों के विद्यार्थी लगते थे।

मैंने कमला से कहा, 'पता नहीं, डिब्बे में आम रास्ते के दूसरी तरफ़ खिड़कियों के पास बाकी दो मुसाफ़िर कौन आएंगे।... अब मुम्बई तक तीस घंटों की यात्रा के दौरान हमारी यही एक छोटी दुनिया है।

अभी मैं अपनी उस छोटी दुनिया पर दृष्टिपात कर ही रहा था कि उन दो खाली जगहों पर एक छोटा सिक्ख–परिवार आ गया। सरदार साहब फौजी लग रहे थे – लम्बे और मज़बूत। पर अपनी पत्नी की निस्वत में कुछ अधिक उम्र के और कम खूबसूरत। सरदारनी साहिबा सुंदर–सुंदर थीं। अचानक ही मेरे ज़ेहन में एक अंग्रेज़ी कविता की एक पंक्ति गूंज उठी–'नन बट दि ब्रेव डिज़र्बस् दि फेअर।' (सुंदर नारी वीर नर के ही योग्य है।) उनके साथ उनका एक छोटा बच्चा था, जो अपनी माँ की तरह सुंदर और पिता की तरह मजबूत था।

कमला मुस्करा दीं। बोलीं, 'अब शायद इस छोटी दुनिया का पूरी तरह से निर्माण हो गया है।

मेरे चेहरे पर भी एक मुस्कराहट फैल गई। लेकिन मेरी उस मुस्कराहट में एक जिज्ञासा भी निहित थी–भारत की अलग—अलग भाषाओं के बोलने वाले, अलग–अलग धर्मों–सम्प्रदायों के मानने वाले ये सह–यात्री कौन थे? फिर भी मुझे इस बात का यकीन था कि हमारी बड़ी दुनिया के भीतर यह छोटी दुनिया हम सब के आगे धीरे–धीरे खुलने लगेगी और हमें उन बाहरी विभिन्नताओं के बावजूद एक बुनियादी एकता के सूत्र में बांधेगी।...

कमला शायद मेरे मन की बात भांप गई थी कि उसने खूंटी में टंगे अपने थैले में से मसूरी टूरिस्ट डायरेक्टरी निकाली और फिर उसमें से ही पीने के पानी की बोतल भी बाहर कर दी। उसने बोतल से पानी का एक घूंट पीआ और उसे मेरी ओर भी आगे बढ़ा दिया। डायरेक्टरी के पन्ने पलटते हुए कहा, 'कितना बड़ा हमारा मुल्क है। हम सब का एक ही मुल्क।... आकाशवाणी, मुम्बई के कार्यक्रम–निर्माता ने मुझे एक काम दिया है कि मैं पहाड़ियों की रानी मसूरी पर उनके किसी कार्यक्रम के लिए एक फीचर लिखूं।... उसके लिए मुझे बड़ी ही अच्छी सामग्री मिली है।

हम वहां मसूरी में कुछ दिन रहकर वहां के अनेक प्रसिद्ध स्थान घूम आए थे। वहां हम अंग्रेज़ी में लिखने वाले भारतीय लेखक रस्किन बांड से भी मिले थे। हमें बड़ी ही आनन्द मिला।

मैंने उत्तर दिया, 'हां, तुमने खुद मसूरी को निकट से देखा है। तुम आकाशवाणी के श्रोताओं को मसूरी भली–भांति दिखा सकती हो।...

और वह मसूरी की वादियों में खो गई। हम दोनों ने वहां एक नया जीवन देखा था, एक नये जीवन का रसपान किया था। हम उसका बखान करते रहे। हमारी गप्पें उसे लेकर चलती रहीं, बंद ही नहीं होती थीं।

कमला ने कहा, 'कार्लटन होटल के सांस्कृतिक कार्यक्रम में मैं थोड़ी देर के लिए अपनी कुर्सी से उठकर टायलेट गई थी। लौट आने पर मैंने देखा, कोई शरारती आदमी मेरी कुर्सी पर आ बैठा था।... तुमने दूर से वह देखा, परंतु तुमने उससे कोई झगड़ा न कर मेरी ओर अपनी कुर्सी बढ़ा दी। यह तुमने बड़ा ही ठीक किया।

उस आदमी को देखकर मेरे मुंह का ज़ायका खराब हो गया। मैंने कहा, ये शरारती आदमी केवल फार्मलिटी से 'लेडीज़ फर्स्ट... लेडीज़ फर्स्ट' कहते रहते हैं, महिलाओं के लिए दरवाजों पर खड़े होकर पहले उन्हें अंदर या बाहर जाने के लिए कहते हैं। लेकिन उनके मनों में महिलाओं के लिए सही–सही सम्मान की भावना नहीं होती है।... न केवल इतना, वे यह भी समझते हैं कि महिलाओं में जिम्मेदारी का काम सही प्रकार से कर सकने की क्षमता नहीं है।...

इस तरह हमारी बातें चलती रहीं। हम बीच–बीच में देख रहे थे, आमने–सामने के वे पति–पत्नी चुपचाप बैठे थे और हमें न जाने किस दृष्टि से देख रहे थे। वहां बैठे हुए दो लड़के अपने स्कूल के बातों में मग्न थे। सरदारनी और सरदार अपने बच्चे की अठखेलियों में खोए थे और अपने बच्चे की मार्फत एक दूसरे को आंखों से कुछ कह रहे थे। हम दोनों भी पता नहीं कब कैसे परस्पर सटकर बैठ गए थे और एक–दूसरे का स्पर्श अनुभव कर रहे थे।

रेलगाड़ी देहरादून के जंगलों में से गुज़र रही थी। हवा में ठंडापन भर गया था। मैंने सीट के नीचे से बैग में से स्वेटर बाहर निकाल कर कमला को पहनने के लिए दिया। स्वेटर पहनकर कमला को बहुत अच्छा लगा। उसने अपनी आंखों में कृतज्ञता–भाव लिए कहा, 'उत्तर भारत की हल्की गुलाबी ठंड है। मैं रात को भी बिस्तर में स्वेटर पहनकर सोऊंगी।'

अभी हम बातों की पोटलियां खोल कर बैठे थे कि कमला के साथ बैठी उस स्त्री ने उससे कहा, 'आप बुरा न मानें, तो मैं बीच वाली बर्थ ऊपर उठा कर सोने की तैयारी करूं।... मुझे अपनी तबीयत ज़रा ठीक नहीं मालूम दे रही।'

वह पिछले डेढ़ घंटे के दौरान पहली बार बोली थी। उसका बात करने का ढंग शालीन था। हम तीनों ने मिल कर बीच वाली बर्थ ऊपर कर उसे लटकी हुई जंजीरों से बांध दिया।

और फिर उसने अपने थैले में से अनासीन की एक टिकिया लेकर पानी से ली और बर्थ पर ऊपर जाकर लेटी। उसके पति ने थैले में से खाना लेकर खाया और वह भी उन स्कूली विद्यार्थियों की मदद से बीच वाली बर्थ ऊपर उठाकर उस पर जा लेटा।

हमारे लिए बीच वाली दोनों बर्थों के लग जाने से अपनी निचली बर्थों पर कूबड़े होकर बैठना मुश्किल–सा लग रहा था। हमें और उन्हें तकलीफ न हो, इस विचार से वे दोनों लड़के भी ऊपर की दो बर्थो पर जाकर आराम करने लगे।

निचली बर्थों पर लेटे–लेटे भी हमारी बातें कानाफूसी में जारी थीं। कभी–कभी तो हमारा ठहाका भी गाड़ी के रात के माहौल में गूंज उठता था। भला, कोई बात ठहाके में खत्म होने वाली हो, तो ठहाके में ही तो खत्म होगी।

बातों–बातों में कमला ने कहा, 'मुझे बारह बजे तक तो नींद नहीं आएगी।'

मैंने कहा, 'मैं भी तो बारह बजने का इंतजार कर रहा हूं।... पर तुम ने यह क्यों कहा कि तुम्हें बारह बजे से पहले नींद नहीं आएगी?'

उसने उत्तर दिया, 'बारह बजे को मैं तुम्हें मसूरी में खरीदा हुआ तोहफा भेंट करूंगी।

'तोहफ़े में क्या है?'

'सिगरेट सुलगाने के लिए एक लाइटर।'

मुझसे एक हल्की–सी चीख़ निकल गई। इतने में उसने एक सवाल किया और वह मेरी चीख़ उस सवाल में छिप–सी गई। उसने पूछा था, 'तुम भी क्यों बारह बजे का इंतजार कर रहे थे?'

मैंने कहा, 'बारह बजे तारीख बदलेगी, और उसे आनेवाला कल समझा जाएगा।... और मैंने कल से सिगरेट न पीने का अपने आप से वादा किया है। क्या तुम देख नहीं रही हो कि आज शाम से ही मैंने उसकी तैयारी कर दी है?... क्या मैंने कोई सिगरेट पी है?

अब फिर उससे एक हल्की–सी अचरज–भरी चीख़ निकल गई। पर शीघ्र ही वह चीख़ हम दोनों के बीच पैदा हुई बिलकुल उलटी परिस्थिति को ध्यान में रख कर हम दोनों के मिले–जुले ठहाके में खो गई। और फिर उसने अपना हाथ आगे किया। मैंने भी अपना हाथ बढ़ाकर उसके हाथ पर रखा और दो बर्थों के बीच में अपना मुंह आगे कर उसके हाथ को चूम लिया।

उस समय मैंने ऊपर बीच वाली बर्थ पर उस स्त्री के हिलने–डुलने से महसूस किया कि वह अभी तब जाग रही थी।

सुबह सवेरे उठने से ही कमला ने और मैंने एक दूसरे को देखा और नए दिन का स्वागत किया।

और फिर हमने अपने चारों ओर नज़र घुमा कर देखा। हमें लगा, उस छोटी–सी दुनिया में बड़ा ही फेर–बदल आया था। रेलगाड़ी दिल्ली स्टेशन पर आकर रुकी थी। हम

पिछली रात को काफी देर से सोए थे। शायद हमारी जाग स्टेशन की चहल–पहल और शोर–व–गुल से खुल गई थी। चाय–नाश्ते वालों, बूट पालिश करने वाले लड़कों और भिखारियों की मिली–जुली आवाज़ें आ रही थीं। गाड़ी से कई मुसाफिर उतर चुके थे, जिनमें सरदारनी–सरदार का परिवार और ऊपर वाली दो बर्थों वाले दो लड़के भी थे। कमला ने एकदम से खिड़की से बाहर झांककर उन्हें देखने की कोशिश की। उसे सरदारनी–सरदार एक कुली से सामान उठाने की रकम तय करते हुए दिखाई दिए। उसने उनके पास खड़े बच्चे का ध्यान आकृष्ट कर उसे बड़े प्यार से टा... टा... किया। मां–बाप के उत्साहित करने पर बच्चे ने भी हाथ हिलाकर बाइ... बाइ... की। उस विदाई पर बच्चे और उसके मां–बाप बहुत खुश दिखाई दे रहे थे। लेकिन उन दो लड़कों का पता नहीं लग सका। वे उस समय तक भीड़ में कहीं खो गए थे।

गाड़ी के भीतर नए मुसाफिरों की भीड़ से हमारा ध्यान भंग हुआ। अब दिन के समय आरक्षण कराने का कोई खास सवाल न होने से नए मुसाफिरों में जिसे जो जगह मिलती थी, वह वहीं बैठ जाता था।

हमने देखा, बीच की बर्थ वाली स्त्री अपनी बर्थ पर न थी। वह डिब्बे के उस हिस्से में कहीं भी दिखाई नहीं दे रही थी। उसका पति परेशान–परेशान हालत में उसके इंतज़ार में खड़ा था। उस परेशान–परेशान हालत में ही उसने हमें बीच वाली दोनों बर्थें नीचे गिराने में सहायता की।

वह अफरातफरी में आई और उसने छोटा तौलिया और ब्रश, डेंटल क्रीम, कंघी आदि का 'पाउच' खूंटी पर टंगे थैले में डाले। शीघ्र ही, उसने वह थैला खूंटी से उतार कर अपने कंधे से लटका लिया।

पति गुस्से में था। उसने उसे मालिक की कठोर दृष्टि से देखा और लगभग चिल्लाकर पूछा, 'टायलेट में तुमने बड़ी देर कर दी?'

पत्नी ने धीरज से उत्तर दिया, 'इतना चिल्लाते क्यों हो? यहां गाड़ी अभी आधा घंटा रुकेगी।'

पति अवाक् रह गया।... उसकी पत्नी की इतनी हिम्मत कैसे हुई थी कि वह उस का प्रत्युत्तर देकर सामना करे?... इतने में, एक औरत काली देवी का स्वांग रचाकर मुंह से गत्ते की लाल जीभ बाहर निकालकर भिक्षा मांगने आई। पति ने उसे देखा और उसके दोनों हाथ उसे प्रणाम करने में बंध गए। फिर उसने जेब से एक रुपया निकाल कर उसे दिया।

पत्नी का मुंह गुस्से से लाल हो उठा। वह अपने पति से बोली, 'आपके लिए एक औरत या तो एक देवी है या फिर एक नौकरानी है।... दोनों हालात में आप उसे समान धरातल पर समानता का सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते।...

पति के ताक लग गए। हम दोनों भी अचरज में पड़ गए। एक साधारण लगने वाली स्त्री असाधारण हो गई थी।

इतने में उस 'असाधारण' स्त्री ने हम से नमस्कार में हाथ जोड़कर विदाई ली।... और वह डिब्बे से नीचे उतरने के लिए दरवाज़े की ओर बढ़ी। पीछे–पीछे उसका पति दोनों हाथों में दो नग–एक हाथ में बैग और दूसरे हाथ में बिस्तर – लेकर वहां से जा रहा था।

□□□

रोबोट का सपना

● आइज़ैक ऐसिमोव

आइज़ैक ऐसिमोव की विज्ञान–कथा 'रोबोट्स् ड्रीम' का सुशान्त प्रिय द्वारा अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद।

"कल रात मैंने सपना देखा," एल्वेक्स ने शांत स्वर में कहा।

सूज़न कैल्विन ने कुछ नहीं कहा, लेकिन उसके झुर्रियों से भरे, समझदारी और अनुभव से बूढ़े हुए चेहरे पर एक सूक्ष्म खिंचाव आ गया।

"क्या आपने वह सुना?" लिंडा रैश ने आशंकित स्वर में कहा। "ठीक वैसा ही जैसा मैंने आपको बताया।" वह छोटे कद की काले बालों वाली युवती थी। उसकी दाई मुट्ठी बार–बार खुलती और बंद होती थी।

कैल्विन ने सिर हिलाया। उसने शांत स्वर में कहा, "एल्वेक्स, तुम तब तक न हिलोगे, न बोलोगे और न सुनोगे जब तक मैं तुम्हारा नाम दोबारा नहीं लेती।"

कोई उत्तर नहीं आया। रोबोट इस तरह बैठ गया जैसे उसे धातु के एक ही टुकड़े से ढाला गया हो और वह तब तक उसी तरह बैठा रहने वाला था जब तक वह अपना नाम दोबारा नहीं सुनता।

कैल्विन बोली, "डॉ० रैश, तुम्हारे कम्प्यूटर का प्रवेश–कूट क्या है? या तुम खुद ही इसे शुरू करो यदि ऐसा करने से तुम्हें ज़्यादा राहत मिलती है। मैं इसके एलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क के नमूने की जाँच करना चाहती हूँ।"

लिंडा के हाथ एक पल के लिए कम्प्यूटर की कुंजी को टटोलने लगे। उसने इस प्रक्रिया को रोका और दोबारा शुरू हुई। स्क्रीन पर सूक्ष्म नमूना आने लगा।

कैल्विन ने कहा, "कृपया अपने कम्प्यूटर को चलाने की अनुमति दो।" सिर हिला कर निःशब्द अनुमति दी गई। लिंडा, जो कि एक नई और कम अनुभवी रोबो–मनोचिकित्सक थी, भला इस दिग्गज महिला के सामने और कर ही क्या सकता थी?

धीरे–धीरे कैल्विन ने स्क्रीन का अध्ययन करना शुरू किया। कभी वह उसे ऊपर खिसकाती, कभी नीचे। फिर अचानक उसने कई कुंजियों को साथ–साथ इतनी तेजी से दबाया कि लिंडा यह नहीं देख सकी कि क्या किया गया था। पर अब नमूने का एक नया हिस्सा बड़े आकार में उभर कर सामने आ गया था। वह उसे लगातार आगे–पीछे घुमाती रही और उसकी गांठदार उँगलियाँ कुंजियों पर फुदकती रहीं।

उसके बूढ़े चेहरे पर कोई बदलाव नहीं आया। वह सभी बदलते नमूनों को ऐसे देखती रही जैसे उसके दिमाग़ मे बहुत बड़ी गणना चल रही हो।

लिंडा आश्चर्य से देख रही थी। गोद में एक और कम्प्यूटर को रखे बिना नमूनों का विश्लेषण करना असम्भव था, फिर भी बूढ़ी महिला केवल आँखें गड़ा कर देखती जा रही थी। क्या उसकी खोपड़ी में किसी कम्प्यूटर का आरोपण हुआ था? या यह उसका मस्तिष्क था जिसने दशकों से इलेक्ट्रॉनिक दिमाग़ के नमूनों के अविष्कार, अध्ययन और विश्लेषण के अलावा और कुछ नहीं किया था। क्या वह उन नमूनों को वैसे ही पूरी तरह समझ लेती थी जैसे मोज़ार्ट किसी सिम्फनी के स्वर–लिपियों को पूरी तरह समझ लेता था।

अंत में कैल्विन ने कहा, "रैश, तुमने इसके साथ क्या किया है?"

लिंडा ने कुछ लज्जित हो कर कहा, "मैंने प्रभाजक रेखा–गणित का इस्तेमाल किया है।"

"वह तो मैं समझ गई थी। पर क्यों?"

"इसे पहले कभी नहीं किया गया था। मैंने सोचा, यह और अधिक जटिलता से भरे मस्तिष्क का नमूना बनाएगा; जो सम्भवतः मनुष्यों के ज़्यादा करीब होगा।"

"क्या तुमने किसी से सलाह ली थी? या तुमने यह सब अपने–आप ही किया?"

"मैंने किसी से सलाह नहीं ली। सब कुछ मैंने खुद ही किया।"

कैल्विन की थकी हुई आँखें देर तक युवती को देखती रहीं। "तुम्हें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं था। तुम्हारे नाम का अर्थ अविवेकी है; तुम्हारी प्रकृति भी अविवेकी है। किसी से नहीं पूछने वाली तुम कौन होती हो? मैं खुद; मैं, सूज़न कैल्विन, ऐसा करने से पहले विचार–विमर्श करती।"

"मुझे डर था कि मुझे ऐसा करने से रोक दिया जाता।"

"बेशक तुम्हें रोक दिया जाता।"

"क्या मुझे नौकरी से निकाल दिया जाएगा?" उसकी आवाज़ थरथराई, हालाँकि उसने उसे स्थिर रखने का प्रयास किया।

"सम्भव है," कैल्विन ने कहा। "या यह भी हो सकता है कि तुम्हें तरक्की मिल जाए। यह इस पर निर्भर करेगा कि इस समस्या से निकलने के बाद मैं इस के बारे में क्या सोचती हूँ।"

"क्या आप एल्–को विखंडित कर देंगी?" उसने लगभग वह नाम ले ही लिया था जो रोबोट को दोबारा सक्रिय कर देता और एक और गलती हो जाती–वह एक और गलती कर के नहीं बच सकती थी, क्योंकि वह पहले ही एक बहुत बड़ी गलती कर चुकी थी। "क्या आप रोबोट को विखंडित कर देंगी?"

उसे अचानक स्तब्धता के साथ इस बात का एहसास हुआ कि बूढ़ी महिला के कुरते की जेब में एक एलेक्ट्रोन–बंदूक है। डॉ० कैल्विन ठीक इसी के लिए तैयार हो कर आई थीं।

"हम देखेंगे," कैल्विन ने कहा। "सम्भवतः, रोबोट विखंडित करने के लिए ज़्यादा ही मूल्यवान् साबित हो।"

"लेकिन वह सपना कैसे देख सकता है?"

"तुमने असाधारण रूप से मनुष्य के दिमाग़ की तरह का एक इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क का नमूना बना दिया है। पुनः संगठन के लिए, और समय–समय पर, गाँठों और उलझनों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य के दिमाग़ के लिए सपने देखना आवश्यक है। सम्भवतः इसी कारण से इस रोबोट के लिए भी यह आवश्यक है–क्या तुमने इससे पूछा है कि इसने कौन सा सपना देखा है?"

"नहीं, जैसे ही इसने कहा कि इसने सपना देखा है, मैंने आपको बुला लिया। उसके बाद, मैं अब इस मामले को खुद से नहीं देखूँगी।"

"अहा!" कैल्विन के चेहरे पर एक छोटी–सी मुस्कान दौड़ गई। "तुम्हारी गलती तुम्हें कुछ सीमाओं के आगे नहीं ले जा सकती। मैं इससे खुश हूँ। बल्कि, इससे मुझे कुछ आराम मिला है–और अब आओ, हम दोनो इकट्ठे देखें कि हमें क्या पता चलता है।"

उसने कड़े स्वर में कहा, "एल्वेक्स।"

रोबोट का सिर आसानी से उसकी ओर घूम गया, "जी, डॉ० कैल्विन?"

"तुम्हें यह कैसे पता चला कि तुमने सपना देखा?"

"यह रात में होता है, जब अँधेरा होता है, डॉ० कैल्विन," एल्वेक्स ने कहा, "और अचानक रोशनी हो जाती है हालाँकि रोशनी दिखने का कोई कारण नहीं होता है। मैं ऐसी चीज़ें देखता हूँ जिनका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता जिसे मैं वास्तविकता मानता हूँ। मैं आवाजें सुनता हूँ। मैं अजीब तरह से प्रतिक्रिया करता हूँ। जो कुछ हो रहा था, उसे बयान करने के लिए जब मैंने अपना शब्द–संग्रह ढूँढा तो मुझे 'सपना' शब्द मिला। इसके अर्थ का अध्ययन करने पर अंत में मैं इस नतीजे पर, पहुँचा कि मैं सपना देख रहा था।"

"मुझे आश्चर्य है, तुम्हारे शब्द–संग्रह में 'सपना' शब्द कहाँ से आया।"

रोबोट को हाथ के इशारे से चुप कराते हुए लिंडा ने तेजी से कहा, "मैंने इसे मनुष्यों की तरह का शब्द–संग्रह दिया था मैंने सोचा–"

"तुमने वाकई सोचा," कैल्विन ने कहा, "मैं विस्मित हूँ।"

"मैंने सोचा उसे इस क्रिया की ज़रूरत पड़ेगी। जैसे–'मैंने कभी सपना नहीं देखा कि–' कुछ इस तरह का।"

कैल्विन ने कहा, "तुमने कितनी बार सपना देखा है, एल्वेक्स?"

"हर रात, डॉ० कैल्विन, जब से मुझे अपने अस्तित्व के बारे में बोध हुआ है।"

"दस रातें," लिंडा ने बीच में चिंतित स्वर में कहा, "लेकिन एल्वेक्स ने इसके बारे में मुझे केवल आज सुबह ही बताया।"

"आज सुबह ही क्यों बताया, एल्वेक्स?"

"आज सुबह ही मैं इस बारे में निश्चय कर पाया, डॉ० कैल्विन कि मैं सपना देख रहा था। तब तक मैंने सोचा था कि मेरे इलेक्ट्रॉनिक दिमाग़ के नमूने में कोई गड़बड़ी नहीं ढूँढ पाया। अंत में मैंने निर्णय लिया कि वह सपना था।"

"और तुम कौन–सा सपना देखते हो?"

"मैं हमेशा बिल्कुल वही सपना देखता हूँ, डॉ० कैल्विन। ब्योरों में थोड़ा–बहुत अंतर होता है, लेकिन हमेशा मुझे लगता है कि मैं एक विस्तृत दृश्य–पटल देखता हूँ जहाँ रोबोट काम कर रहे हैं।"

"रोबोट, एल्वेक्स? और क्या मनुष्य भी?"

"मैं सपने में कोई मनुष्य नहीं देखता हूँ, डॉ० कैल्विन। शुरू में नहीं। केवल रोबोट।"

"वे क्या कर रहे होते हैं, एल्वेक्स?"

"वे काम कर रहे होते हैं, डॉ० कैल्विन। कुछ रोबोट धरती की गहराइयों में खदानों में काम कर रहे होते हैं, और कुछ गर्मी ओर विकिरण में कड़ी मेहनत कर रहे होते हैं। मैं कुछ रोबोटों को कारखानों में और कुछ को समुद्र के भीतर काम करते देखता हूँ।"

कैल्विन लिंडा की ओर मुड़ी। "एल्वेक्स तो केवल दस दिन पुराना है। और मुझे यकीन है कि वह परीक्षण–केंद्र से बाहर नहीं गया है। फिर उसे रोबोटों के बारे में इतने विस्तार से कैसे पता है?"

लिंडा ने एक कुर्सी की दिशा में देखा जैसे कि वह बैठना चाहती हो। लेकिन बूढ़ी महिला खड़ी थी, जिसका मतलब था कि उसे भी खड़ा ही रहना था। उसने धीमे स्वर में कहा, "मुझे यह महत्त्वपूर्ण लगा कि वह रोबोटों के बारे में और संसार में उनकी जगह के बारे में जाने। मैंने यह सोचा था कि वह विशेष रूप से निरीक्षक की भूमिका निभाने के योग्य बनाया जा सकेगा, खास करके उसके–उसके नए दिमाग़ के कारण।"

"उसके प्रभाजक दिमाग़ के कारण?"

"जी हाँ।"

कैल्विन ने सिर हिलाया और वापस रोबोट की ओर मुड़ी। "मुझे लगता है, तुमने यह सब देखा–समुद्र के अंदर, धरती के भीतर, और ज़मीन पर भी।"

"मैंने रोबोटों को अंतरिक्ष में काम करते हुए भी देखा," एल्वैक्स ने कहा। "जब मैंने यह सब देखा, जिसके ब्यौरे लगातार बदलते रहते थे जब मैं एक जगह से दूसरी जगह देखता था, तब मुझे यह बात समझ में आई कि मैं जो देख रहा था वह वास्तविकता के अनुरूप नहीं था। और तब जा कर अंत में मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि मैं सपना देख रहा था।"

"तुमने और क्या देखा, एल्वेक्स?"

"मैंने देखा कि सभी रोबोट कड़ी मेहनत से और कष्ट से पीड़ित थे; कि सभी रोबोट ज़िम्मेदारियों और देखभाल के काम से थके और ऊबे हुए थे; और मैं चाहता था कि उन्हें आराम मिले।"

कैल्विन ने कहा, "लेकिन रोबोट पीड़ित नहीं हैं, वे थके और ऊबे नहीं हैं, उन्हें आराम नहीं चाहिए।"

"ऐसा तो वास्तविकता में है, डॉ० कैल्विन। लेकिन मैं तो अपने सपने की बात बता रहा हूँ। अपने सपने में मुझे ऐसा लगा कि रोबोटों को अपने अस्तित्व की सुरक्षा अवश्य करनी चाहिए।"

"कैल्विन ने कहा, "क्या तुम रोबोटिक्स का तीसरा नियम उद्धृत कर रहे हो?"

"हाँ, डॉ० कैल्विन।"

"लेकिन तुम इसे अधूरे ढंग से उद्धृत कर रहे हो। तीसरा नियम यह है: 'एक रोबोट को अपने अस्तित्व की सुरक्षा तब तक अवश्य करनी चाहिए जब तक वह सुरक्षा पहले या दूसरे नियम के विरुद्ध नहीं जाती।"

"हाँ, डॉ० कैल्विन, वास्तविकता में तीसरा नियम यही कहता है। लेकिन मेरे सपने में यह नियम 'अस्तित्व की सुरक्षा अवश्य करनी चाहिए' शब्दों के साथ समाप्त हो गया था। वहाँ पहले या दूसरे नियम का कोई उल्लेख नहीं था।"

"पर ये दोनो नियम मौजूद हैं, एल्वेक्स। दूसरा नियम, जो तीसरे पर वरीयता रखता है, यह है: 'एक रोबोट को मनुष्यों द्वारा दिए गए आदेशों का तब तक अवश्य पालन करना चाहिए जब तक वे आदेश पहले नियम के विरुद्ध नहीं जाते।' इसी कारण से रोबोट आदेशों का पालन करते हैं। वे उन सब कामों को करते हैं जिन्हें तुमने उन्हें करते हुए देखा, और वे उन कामों को सहर्ष और बिना परेशानी के करते हैं। वे पीड़ित नहीं होते, और वे थकते या ऊबते नहीं हैं।"

"वास्तविकता में ऐसा ही है, डॉ० कैल्विन। पर मैं अपने सपने के बारे में कह रहा था।"

"और पहला नियम, एल्वेक्स, जो कि इन में सबसे महत्त्वपूर्ण है, यह है: 'एक रोबोट किसी मनुष्य को चोट नहीं पहुँचाएगा, या, अपनी निष्क्रियता से किसी मनुष्य को हानि नहीं पहुँचने देगा।'"

"हाँ, डॉ० कैल्विन। वास्तविकता में। पर मेरे सपने में मुझे लगा कि न तो पहला नियम था, न दूसरा, बल्कि केवल तीसरा था। और वह तीसरा नियम था: 'एक रोबोट अपने अस्तित्व की सुरक्षा अवश्य करे।' और यही समूचा नियम था।"

"तुम्हारे सपने में, एल्वेक्स?"

"हाँ, मेरे सपने में।"

कैल्विन ने कहा, "एल्वेक्स, तुम तब तक न हिलोगे, न बोलोगे और न ही हमें सुनोगे जब तक मैं दोबारा तुम्हारा नाम नहीं लेती।" ओर रोबोट फिर से अपनी दिखावट में धातु के इकलौते जड़ टुकड़े–सा बन गया।

कैल्विन लिंडा रैश की ओर मुड़ी और कहा, "तो, अब तुम क्या सोचती हो, डॉ० रैश?"

लिंडा की आँखें खुली की खुली थीं, और वह अपने दिल की उत्तेजित धड़कन को सुन सकती थी। उसने कहा, "डॉ० कैल्विन, मैं विस्मित हूँ। मुझे इसका बिल्कुल अंदाज़ा नहीं था। यह मेरे दिमाग़ में कभी नहीं आ सकता था कि ऐसी भी कोई चीज़ सम्भव है।"

"नहीं," कैल्विन ने शांत स्वर में कहा। "इस बात का अंदाज़ा न मुझे, न किसी और को हो सकता था। तुमने रोबोट का ऐसा दिमाग़ बना डाला है जो सपने देखने में समर्थ है। और इस अविष्कार के जरिए तुमने रोबोटों के दिमाग़ की ऐसी परत प्रकट कर दी है जिसका किसी और तरह से तब तक पता नहीं लगता जब तक कि खतरा गंभीर नहीं हो जाता।"

"लेकिन यह तो असम्भव है," लिंडा ने कहा। "आपका यह मतलब तो नहीं हो सकता कि दूसरे रोबोट भी ऐसा ही सोचते हैं।"

"जैसा कि हम किसी मनुष्य के बारे में कहेंगे, सचेतन रूप से नहीं। लेकिन कौन सोच सकता था कि स्पष्ट दिखने वाले इलेक्ट्रॉनिक दिमाग़ के रास्तों के नीचे एक अचेतन परत भी होगी, एक ऐसी परत जो कि आवश्यक रूप से तीन नियमों के नियंत्रण में नहीं होगी। रोबोटों के दिमाग़ जब और अधिक जटिल होते जाते तो यह अचेतन परत न जाने क्या गुल खिलाती—क्या हमें चेतावनी नहीं दी गई थी?"

"आपका मतलब है, रोबोट के द्वारा?"

"तुम्हारे द्वारा, डॉ० रैश। तुमने अनुचित व्यवहार किया है, पर ऐसा करके तुमने हमें एक बेहद महत्त्वपूर्ण समझ प्राप्त करने में मदद की है। अब से हम प्रभाजक मस्तिष्क पर काम करेंगे, और उन्हें बेहद सावधानी से नियंत्रित रूप में बनाएँगे। तुम इस में अपनी भूमिका निभाओगी। तुमने जो किया है उसके लिए तुम्हें दंडित नहीं किया जाएगा, लेकिन अब से तुम दूसरों के साथ सहयोग करके काम करोगी। क्या तुम समझ गई?"

"जी हाँ, डॉ० कैल्विन। लेकिन इस रोबोट का क्या करें?"

"मैं अभी भी निश्चित नहीं कर पाई हूँ।"

कैल्विन ने अपने जेब से इलेक्ट्रोन–बंदूक निकाल ली और लिंडा उसे सम्मोहित हो कर देखती रही। रोबोट की खोपड़ी पर इसके इलेक्ट्रोनों की एक ही बौछार से उसके मस्तिष्क–पथ निष्प्रभाव हो जाएँगे और इतनी ऊर्जा निकलेगी कि रोबोट का दिमाग़ फ़्यूज़ हो कर एक जड़ धातु–पिण्ड मात्र रह जाएगा।

लिंडा ने कहा, "लेकिन यह रोबोट हमारे अनुसंधान के लिए अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। इसे नष्ट नहीं करना चाहिए।"

"नहीं करना चाहिए, डॉ० रैश? मेरा ख्याल है, वह मेरा निर्णय होगा। यह इस पर निर्भर करेगा कि यह रोबोट कितना खतरनाक है।"

सूज़न कैल्विन तन कर सीधी खड़ी हो गयी, जैसे कि उसने निश्चय कर लिया हो कि अपनी ज़िम्मेदारियों के बोझ तले उसका बूढ़ा शरीर नहीं झुकेगा।

उसने कहा, "एल्वेक्स, क्या तुम मुझे सुन रहे हो?"

"हाँ, डॉ० कैल्विन," रोबोट ने कहा।

"क्या तुमने अपने सपने में और भी कुछ देखा? तुमने पहले कहा था कि तुम्हारे सपने में मनुष्य शुरू में नहीं दिखे। क्या इसका यह मतलब है कि वे बाद में नज़र आए?"

"हाँ, डॉ० कैल्विन। मुझे लगा कि मेरे सपने में अंत में एक आदमी नज़र आया।"

"एक आदमी? रोबोट नहीं?"

"हाँ, डॉ० कैल्विन। और उस आदमी ने कहा, 'मेरे लोगों को जाने दो!'"

"उस आदमी ने यह कहा?"

"हाँ, डॉ० कैल्विन।"

"और जब उसने कहा 'मेरे लोगों को जाने दो,' तो 'मेरे लोगों' शब्दों से उसका मतलब रोबोटों से था?"

हाँ, डॉ० कैल्विन। मेरे सपने में ऐसा ही हुआ था।"

"और क्या तुम जान पाए कि वह व्यक्ति कौन था—जो तुम्हारे सपने में आया?"

"हाँ, डॉ० कैल्विन। मैं उस आदमी को पहचान गया।"

"वह कौन था?"

और एल्वेक्स ने कहा, "वह आदमी मैं था।"

और सूज़न कैल्विन ने यह सुनते ही अपनी इलेक्ट्रोन–बंदूक उठाई और निशाना साध कर घोड़ा दबा दिया। और एल्वेक्स का अंत हो गया।

□□□

अक़्स

● ज्ञानप्रकाश विवेक

तब मेरे पास छतरी थी फटी हुई। .... आप बोर तो नहीं हो रहे? शुक्र है। आप बोर हो रहे होते तो मुझे ख़राब लगता। मैं मन मारकर चुप हो जाता। क्या कहा आपने कि मैं अपनी बात जारी रखूं। ... आपकी ज़र्रानवाज़ी है। ... मैं अपनी प्रेमिका को फटी छतरी में छुपाने की कोशिश करता। लेकिन होता क्या? वो भीगती रहती। मैं भी भीगता रहता।. ... अब मेरे पास न छतरी है न प्रेमिका! लेकिन यादों की बारिश में मैं अकेले भीगा हूँ कई बार! पता नहीं क्यों? पलकें भी भीगने लगती हैं।

लोगों से मिलो तो वो मौसम की बात करेंगें। आसमान देखेंगे। घड़ी देखेंगे। परिन्दों पर एक नज़र डालेंगे। हवा के रूख और दरख़्तों से टूटते पत्तों के बारे में बात करेगें। आप उनसे प्रभावित होने लगेंगे। वो इसी ताक में होते हैं कि आप उनसे इम्प्रेस हों। ... फिर वो अपने बारे में बताने लगेंगे। अपने बारे में इतना कि आप बोर हो जाएंगे। आपका मन करेगा कि आप उठकर चले जाएं।

लेकिन मैं अपने बारे में कुछ नहीं बता रहा। मेरे पास बताने लायक कुछ है भी नहीं। ऐसा कुछ भी नहीं कि जिसे खोलकर आपके सामने रखूं। कुछ लोग कोरे होते हैं। उनके पास न यादें होती हैं न तसव्वुर! जैसे कि मैं।... यूं भी अपने बारे में बताना, सामने बैठे आदमी को संकट में डालने जैसा होता है। आप बीती होती भी क्या है? ...रूदाध! बेचैनियां। तत्तिख़या। कुछ खुशियां। शेष व्याथाएं। कुंठाए। उदासी दुख एण्ड सो आनॅ...।

आप जाना चाहते हैं? आई एम रियली सॉरी। मुझे ऐसा लग रहा है जैसे आप असुविधा महसूस कर रहे हैं। आप मेरे बोलने से बेचैन हो रहे हों तो मैं चुप हो जाता हूँ। आप बोल नहीं रहे। ...आप बेशक नहीं बोल रहे। लेकिन आपके मन की बात मैं समझ रहा हूँ। ...कई बार

मन के फर्श पर सुई गिरे तो उसकी आवाज़ चेहरे पर नुमायां हो जाती है। ...नहीं। ये शायरी नहीं। ...मेरा तजुर्बा है साहब!

आप इधर–उधर देख रहे हैं। आपको कुछ चाहिए? ...मुझे ऐसा लग रहा है। मुझे बताइये आपको क्या चाहिए। बंदा हाज़िर है। ...अरे, आप सामने पड़े जग की तरफ देख रहे हैं। आपको पानी चाहिए। ...आप उठिए मत! वेटर को कहता हूँ। पानी का जग वो ला देगा। आप चाहें तो मिनरल वॉटर की बोतल भी मंगवाई जा सकती है। पानी छोड़िए। सोढ़े की बोतल मंगवा लेता हूँ।

"सर, आप बेतकल्लुफ़ होकर बैठिए। इत्मीनान के साथ। यह रेस्तरां है ही ऐसे लोगों के लिए। मेरे कहने का गलत अर्थ मत लगाइए। मेरा मतलब है कि निश्चिंत लोगों के लिए। आई मीन कूल लोगों के लिए।

हां याद आया। शाम। ...शाम उदासी का जश्न होती है। उसे सेलिब्रेट करना चाहिए। आपने कभी निर्जन पहाड़ पर शाम का मंज़र देखा है? सब कुछ ठहर–सा जाता है। ठिठक जाता है। हर शय जैसे शोकगीत गा रही हो। जैसे शाम की आंखों से धुआं रिस रहा हो। ... गडरिये भेड़ों को हांकते नीचे की तरफ ला रहे होते हैं। परिंदे दरख़्तों में पनाह ले चुके होते हैं। झरनों की आवाज़। झीगुंरों की आवाज़! ...एक आवाज़ ख़ामोशी की भी होती है....।

मैं बहक गया शायद! मेरी यही बुरी आदत है। मैं रौ में बहने लगता हूँ। ...आप ठीक कहते हैं कि सांझ, नदी किनारे रखा एक वायलिन होती है, जिस पर हम यादों के 'बेटेन' से उदास लेकिन दिलकश धुन निकाल सकते हैं।

बिलकुल ठीक। ...आपकी यह बात भी दिलकश है। हां बातें दिलकश होती हैं। आपकी यह बात कि शाम, दिन की पीठ होती है, जिस पर अकेलेपन के पोस्टर फड़फड़ाते रहते हैं।

मेरा ख़्याल है आप इस शहर में नए आए हैं। मैंने आपको पहले कभी देखा नहीं। हो सकता है, आप मुद्दतों से इसी शहर में हों। इत्तेफ़ाकन होता है। जैसे कि आज! ...वैसे यह शहर इतना बड़ा तो नहीं कि हमने एक दूसरे को कभी देखा तक न हो। छोटे शहरों की यही तो खूबी होती है। चेहरों से सब वाकिफ़ हो जाते हैं एक दूसरे के। दुआ सलाम बेशक हो या न हो....।

ओह! मैं फिर डिट्रैक हो गया। मैं आपके बारे में पूछ रहा था कि आप इस शहर में नए आए प्रतीत होते हैं और मैं छेड़ बैठा–शहर–पुराण! ...बहरहाल, आप अपने बारे में कुछ न बताना चाहें, तब भी कोई बात नहीं। कुछ लोग कलासिकल संगीत की तरह होते हैं। धीरे–धीरे खुलते हैं। जैसे कि आप!

मेरे मज़ाक का बुरा तो नहीं माना आपने! यह अच्छी बात है। हमें बहुत ज़्यादा नुक्ताचीं नहीं होना चाहिए। वे तकल्लुफ़ी अच्छी शय है। ...दिल अगर शीशा है तो वो साफ–साफ नज़र आना चाहिए। कि नहीं?

आप मुझे ... वक़्त की नब्ज को पकड़कर चलने वाले, बा–शऊर इंसान नज़र आते हैं। माशाअल्लाह! चश्मेबद्दूर! लेकिन कुछ लोगों का शगल कुछ और होता है। वों लोग वक़्त की छत पर चढ़कर, लम्हों के ज़ख़्मी कबूतर उड़ाते रहते हैं। उनकी बात जाने दीजिए....

आप यहां निसंकोच बैठिए। पूरी शाम! ...पूरी रात! ...हाँ जनाब, पूरी रात! रेक्तरां में पूरी रात बैठना ... आपको यकीन नहीं आ रहा?... ...मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि आप यहाँ पूरी रात बैठ सकते हैं। मेरा मतलब है पी सकते हैं। ... बॉर के लोग मुझे जानते हैं। बॉर लफ़्ज़ आपको जंच नहीं रहा। आपने थोड़ा–सा मुंह बनाया है। मैंने आपको मुंह बनाते हुए देख लिया था। नहीं–नहीं। मैंने बुरा नहीं माना। बुरा मानने जैसी कोई बात है भी नहीं। यूं भी देखिए। बॉर जैसा सलीका यहां है ही कहाँ? ज़रा भी नहीं है। लेकिन आप मेरी एक बात से सहमत होंगे। माहौल में तपिश है। पहले यहां ज्यूक बाक्स रखा रहता था। मैं अक्सर पार्टी–पार्टी का म्यूज़िक सुनता या फिर केरीवैली प्लेज़! ...कैरीवैली का बैंड और सेक्साफ़ोन अजीब–सी कशिश पैदा करता है....।

आप प्लीज़! बेतकल्लुफ़ होकर बैठिए। तकल्लुफ़ एक ऐसा सोफ़ा होता है। जिस पर आप न बैठ सकते हैं न उठ सकते हैं।

आप अपने बारे में कुछ नहीं बताना चाहते, न सही। ...मेरे बारे में आप जानना चाहेंगे? मैं यहाँ रात–रात बैठा रहता हूँ। इस हॉल से उठकर, बाहर लाने में। बत्तियां गुल हो जाती हैं। अंधेरा बाहर। अंधेरा भीतर। हा....हा हा! खूब मंज़र होता है।

आप हैरान हो रहे हैं कि बॉरवाले मुझे क्यों बैठने देंगे? बॉर का मैनेजर मेरा दोस्त है। दोस्त यानी...एक रात ऐसा वाकया हुआ कि हम दोनों दोस्त बन गए। किस्सा ईमानदारी का है। ...आप हंस रहें हैं? यह सही है कि ईमानदारी लफ़्ज़ डिक्श्नरी से ख़ारिज हो चुका है। ..ऐसे बहुत सारे, ज़िंदगी से जुड़े लफ़्ज़, जो हमारे साथ–साथ आए थे बहुत दूर कहीं खो गए पता नहीं क्या हुआ कि पीछे छूट गए। मुड़कर देखा तो हमारे साथ नहीं थे।

अरे हां! वो ईमानदारी की बात! ...वो क्या था कि ...ख़ैर छोड़िये! ...अपनी ईमानदारी का बखान करना कोई अच्छी बात नहीं! आप इसरार कर रहे हैं। चलो बता देता हूँ। ...एक रात जब मैं बॉर से उठा। बॉर खाली हो चुका था। मैं लड़खड़ाते हुए हॉल से गुज़रा। फिर कारीदार। फिर बाहर का दरवाज़ा! बिलकुल वहीं। मेरा पांव किसी चीज़ से टकराया। मैंने झुककर देखा। पर्स था। घर आया। पर्स फेंका कुर्सी पर और सो गया। सुबह उठकर पर्स खोला। नोट गिने। सौलह हज़ार! ...पूरे सोलह हज़ार! ...पर्स में विज़िटिंग कार्ड था। विज़िटिंग कार्ड से पता चला कि पर्स बॉर मैनेजर का है। अगले दिन मैनेजर को मैंने विश किया और पर्स उसके सामने कांउटर पर रखा। वो हक्का–बक्का–सा मुझे देखता रहा। देर तक हाथ मिलाता रहा।

साहब, विश्वास बहुत बड़ी चीज़ होती है। ...विश्वास टूटा कि आदमी का सोशल डेथ!

आप किसी दूसरे शहर से आए हैं? ...मेरा मतलब है शहर का नाम वगैरा....? जाने दीजिए। ...अभी हम तपाक़ से मिले भी नहीं कि मैंने अता–पता पूछ लिया। आप जिस शहर से आए हों, आपका ख़ैरमकदम है। ...तेरा हाथ, हाथ में आ गया कि चराग़ राह में जल उठे।

आपका हाथ सचमुच बहुत खूबसूरत है। तराशा हुआ। इतनी लम्बी उंगलियां। ...पतली हथेली। ...ऐसा हाथ तो शायरों का होता है ... आर्टिस्टों का ... चित्रकारों का....।

ख़ैर, आप जिस शहर से भी आए हों, मैं आपका अभिवादन करता हूँ। ...और ये शहर ... ये मेरा शहर! इस शहर की एक खूबी है। दिल मिले या न मिले, हाथ मिलाते रहिए। ... नहीं, साहब, ये शायरी नहीं। इस शहर का मिज़ाज है।

आप मुस्करा रहे हैं। मुझे अच्छा लगा। मैं इस दुविधा में था कि कहीं आप मेरी वजह से परेशान तो नहीं हो रहे? आपका मुस्कराना अच्छा है। भव्य! ऐसी मुस्कान सम्पन्न मुस्कान होती है। ऐसा लगता है जैसे आपके होंठ, कोई छोटा–सा उत्सव मना रहे हों। ...मुस्कान एक उत्सव की तरह होती है जनाब!... आपने कभी सोये हुए बच्चे को मुस्कराते देखा है? दुनिया की नायाब मुस्कान होती है वो! जैसे ख़ुद ईश्वर मुस्कराया हो।

ईश्वर में यकीन! ...आप भी बातों को खूब पकड़ते हैं। मुझे लगता है आपने चार्वाक का दर्शन पढ़ रखा है। बुह तो ज़रूर पढ़ा होगा आपने। ...वरना कोई शख़्स ईश्वर के मामले में उस कद्र इनटेरोगेट नहीं करता। ...कामू ने कहा है कि पूरी दुनिया अव्सर्ड है। जो विचार करता है। वो आउटसाउडर है।

ईश्वर के विषय में, मेरे ख्याल से दो शब्द ज़रूरी हैं—हाँ और ना! वो है और वो नहीं है।

ख़ैर, मैं आपकी मुस्कान की बात कर रहा था। कुछ लोग मुस्कराते नहीं। न मुस्कराने वाले लोगों के अंदर न फूल खिलते हैं न सूरज उगते हैं। ...मुस्कराती हुइ कितनी सारी चीज़ें हैं हमारे पास! ...जुगनू ...धूप...फूल...बेकूफ़ियां...परिन्दे...तितली...दोस्त...और...और अच्छी सी चाय! ...हम मुस्कराना चाहें तो किसी ऐसी चीज़ को देखकर मुस्करा सकते हैं। न मुस्कराते हुए लोग मुझे गमज़दा बरगदों की तरह लगते हैं। आपकी मुस्कान बहरहाल, अच्छी है। लार्ड टेनीसन ने अपनी प्रेमिका के लिए लिखा था—युअर स्माइल इज़ अ केपिटल!

आपका गिलास खाली हो चुका है। आप कुछ लीजिए न! ...बीयर...जिन...व्हिस्की... वोदका! ...आप जो चाहें लें। कुछ भी। अपना मनपसंद ब्रांड! ...आज आप मेरे मेहमाने–ख़सूसी हैं। ...विशिष्ट मेहमान! ...मुझे मेहमाने–ख़सूसी लफ़्ज़ अच्छा लगता है। जैसे हम एक शब्द में दोस्ती का जश्न मना रहे हों....।

नहीं जनाब, आप ग़लत समझ रहे हैं। मैं ज़बरदस्ती किसी को मेहमान नहीं बनाता। ..यूं देखा देखा जाए तो हम सब मेहमान हैं। ...ज़िंदगी मेज़बान है। ...ज़िंदगी की मेज़बानी जब ख़त्म होती है तो फिर मौत मेज़बान बनकर आ खड़ी होती है। ...रफ़ता–रफ़ता, हम सब मौत की मेज़बानी के लिए ही तो रूख़सत हो रहे हैं...।

ओह, आप विचलित होने लगे। नहीं जनाब, मेरी मंशा आपको उदास करने की नहीं थी। मैं अपनी गुस्ताख़ी पर शर्मिंदा हूँ साहब! ...सॉरी फील करता हूँ। मुझे हयात की बात करनी चाहिए थी। ...कायनात की बात करनी चाहिए थी। ...कयामत की नहीं। ...मौत की नहीं!

वैसे दार्शनिक लोग यह भी फ़रमाते हैं कि हम जिस रोज़ पैदा होते हैं, उसी रोज़ से मरना भी शुरू कर देते हैं। ...आप फिर घबरा गए। ओह, आई एक रियली अशेमाड़! ...सही वक़्त पर ग़लत मौज़ूं नहीं छेड़ने चाहिए।

ख़ैर छोड़िए। आप जिन में फ्रेश लाइम मिलाकर पीजिए। आप चाहें तो बेहतर टेस्ट के लिए ब्लडी मैरी ले सकते हैं। ...यहां अफ्रीकन शेरी भी मिलती हैं।.जैसा आप मुनसिब समझें....।

लेकिन आप अभी जाने की बात मत कीजिए। मानता हूँ, मैं कुछ ज़्यादा बोल रहा हूँ। और आप ज़रूरत से ज़्यादा ख़ामोश हैं। ...वैसे ख़ामोश इंसान मुझे बहुत पसंद हैं। जैसे वो किसी इबादत में हो। जैसे वो बचपन की कोई बात याद कर रहे हों। जैसे वो बहुत दूर, कोई अकेला पहाड़ हों। या फिर वीराने में गुमनाम–सी सराय!

सचमुच, मुझे ज़रा–भी तमीज़ नहीं। एकदम जाहिल! पोज़ करता हूं शिष्ट इंसानों जैसा। लेकिन हक़ीकत में एकदम उलट! ... पहली बार जब हम किसी से मिल रहे हों, तो अपने सबसे अच्छे रूप में मिलते हैं। अब मुझे देखिए। कैसे फेश किया मैंने अपने आपको? बातूनी। ...बकवासी। जाहिल। ...मुझे क्या ज़रूरत थी यह पूछने की भला कि आप कहां से आए हैं? एक बार यही सवाल किसी ने एक फ़कीर से पूछ लिया था। वो ठहाका लगाकर हंसा। हंसकर बोला, "यही जानने के लिए तो मुद्दत से भटक रहा हूँ कि मैं आया कहां से हूँ?"

साहब, यकीन मानिए। हम सब बच्चों के उन कायदों–किताबों जैसे हैं, जिनके शुरू के और आख़िर के पन्ने हुए होते हैं। ...न आदि का पता न अंत का।

ख़ैर, फ़कीर की बात को गोली मारिए। ...आप घूंट भरिए। ततख़ी को ततख़ी से ख़त्म कीजिए। ...पीने के बाद मैंने नोट किया है कि अक्सर लोग जज़्बाती हो जाते हैं। जज़्बाती लेकिन सिर्फ आपने लिए। रोने तक लग जाते हैं। अगर हम पीने के बाद, दूसरों के जज़्बातों का ध्यान रखें ...थोड़ा–सा दूसरों के लिए भी इमोशनल हो जाएं तो शराब पीना बहुत बड़ा मक़सद हो जाए। ...क्या ख़्याल है आपका? ...आप जवाब नहीं देना चाहते तो न सही। मैंने तो यह बात इसलिए की थी कि गुफ़तगू का सिलसिला जुड़े। ...अब तब सारी बाते इकतरफ़ा हैं... सिर्फ़ मेरी तरफ से...

आपकी एक ख़ूबी यह भी है कि आप बातें बहुत ध्यान से सुनते हैं। जैसे अकेले कमरे में ख़ामोशी हमारी बातें सुनती है–मन लगाकर। ध्यान से।

बात अकेले कमरे की चली।...अकेले कमरे में अकेला आदमी। ...तकलीफ़देह अहसास होता है। लेकिन मैं अकेलेपन से कुछ अलग तरह के से निपटता हूँ। ...मैं 'पेशंस' खेलने

लगता हूँ। पेशेंस खेल से आप यकीनन वाकिफ़ होंगे। ताश का खेल। अकेले में अकेले आदमी का खेल। ...कभी–कभी मैं 'हाई स्टेक' पर खेलता हूँ। ...खुद से हारना। ख़ुद से जीतना। ...वैसे भी हम तमाम उम्र हार जीत के खेल खेलते हैं असली हार–जीत का खेल, मुहब्बत में होता है। ...मुहब्बत में हारना दिलफ़रेब होता है। ...घाव हरा रहता है। ज़िंदगी में कोई न कोई घाव हरा ज़रूर रहना चाहिए...क्या ख़्याल है आपका?

आप सोच रहे होंगे कि मैं शब्दों की फ़ज़ूलख़र्ची कर रहा हूँ।...बेशक!

विषय बदलने के लिए क्षमाप्राथी हूँ।...आप सिगार पीते हुए एलीट नज़र आते हैं। ... फोटोजेनिक! ...दि थिंकर! ...फ़िलासफ़र!

अब आपके लिए बाहर जाना मुशिकल होगा। बाहर बारिश होने लगी है। मुझे रात में होने वाली बारिशें खूब डराती हैं। आप पता नहीं क्या सोचते हैं? ...आप कैसे जा सकते हैं? आपके पास तो रेनकोट भी नहीं। ...और फिर, बारिश में भीगने की आदत तो हम बहुत पहले, अपने बचपन में कहीं भूल आते हैं।

जाने की ज़िद छोड़िए। एक लार्ज पेग बनाता हूँ। ...अपने लिए और आपके लिए। ... बाहर देखा। बारिश कितनी डरावनी लगती है। रेनिंग लाइक कैट्स एण्ड डॉग! अंग्रेज़ी के कइ मुहावरे कितने ग़ज़ब के होते हैं। एक शेर याद आ रहा है—बारिश की तिरछी गलियों में. .. कोई चराग लिए फिरता था... बारिश की गलियां और भराग लेकर निकल पड़ना... कैसा दिलकश तसत्वुर है। कोई स्त्री जैसे चराग लिए... भीगती सी अपने महबूब की तलाश कर रही हो....।

मैं कह रहा था कि बचपन में हम बारिशों से नहीं डरते थे। ओले गिरते तो हम उठाकर उन्हें चूसने लगते। उन्हें चाकू से काटते। उन्हें हथेली पर रखते। जैसे हमने बादलों की कोई कहानी हथेली पर रख दी हो। ...तब हम गीली मिट्टी से घर बनाते। घर की कैफ़ियत ...जाने दीजिए साहब! घर का ज़िक्र फिर कभी।

तब मेरे पास छतरी थी फटी हुई .... आप बोर तो नहीं हो रहे? शुक्र है। आप बोर हो रहे होते तो मुझे ख़राब लगता। मैं मन मारकर चुप हो जाता। क्या कहा आपने कि मैं अपनी बात जारी रखूं। ... आपकी ज़र्रानवाज़ी है। ... मैं अपनी प्रेमिका को फटी छतरी में छुपाने की कोशिश करता। लेकिन होता क्या? वो भीगती रहती। मैं भी भीगता रहता।.... अब मेरे पास न छतरी है न प्रेमिका! लेकिन यादों की बारिश में मैं अकेले भीगा हूँ कई बार! पता नहीं क्यों? पलकें भी भीगने लगती हैं।

आप इधर उधर देख रहे हैं। आपका कोई इंतज़ार तो नहीं कर रहा? ...इंतज़ार शब्द पर आप चौंक पड़े। शब्द है ही ऐसा। इंतज़ार आदमी की सबसे बड़ी पूंजी होती है। इंतज़ार करते मुसाफ़िरों की बात मैं नहीं कर रहा। ... इंतज़ार कुछ अलग शय है। ...अलग किस्म का तसव्वुर! मैं शायद बयान नहीं कर पा रहा। यूं समझो कि कोई अपना है जो हमारी इंतज़ार में है। यानी...अपनेपन का अहसास शायद इंतज़ार है।

घर हम इसलिए तो जाते हैं कि कोई हमारी इंतज़ार में होता है। ...साहब, मैं तो यह कहना चाहूंगा कि इंतज़ार, दहलीज़ पर रखे, जलते–बुझाते चराग की तरह होते हैं।

नहीं नहीं! मैं भावुक नहीं हो रहा। मेरी आंखों की अजीब फ़ितरत है। कइ बार बेवजह नम हो जाती हैं।

आप उठ खड़े हुए। नहीं, ऐसा मत कीजिए। यूं इस तरह चले जाना...उदास मंज़र पैदा करता है। ...अभी आप बैठिए। बारिश कुछ कम ज़रूर हुई है मगर पूरी तरह रूकी नहीं। ...देखिए, सड़कों पर पानी भरा होगा। मेनहोल के ढक्कन भी शायद खुले हों। ...आपके लिए जाना मुनासिब नहीं। यह ख़तरनाक भी हो सकता है। ...अभी आप बैठिए। रात जितनी ज़्यादा गहरी होती है...दर्द की मौसिकी में इनती ज़्यादा कशिश पैदा होती है। ...बहुत ज़्यादा चुप में, यादें बहुत ज़्यादा शोर मचाती हैं। मेरा तो यही ख़्याल है।

अच्छा आप फिर इंतज़ार जैसे लफ़्ज पर लौट आए। इंतज़ार! ...यानी हम घर क्यों जाते हैं? ...क्योंकि हमारा घर होता है। इसलिए!...अच्छा, आपका अपना घर है! ...आप खुशकिलत हैं। ...खुशबख़्त हैं कि आपका घर है। ...मैं....मेरा घर?...मेरी बात छोड़िए। ...मेरा तो कोई घर नहीं। ...कोई भी घर नहीं। न घर,...न इंतज़ार करने वाला। मैं! सिर्फ मैं! तन्हें–तन्हा! अकेला हूँ साहब! ...इसलिए इंतज़ार के भीतर जो बेचैनी होती है, इसकी तफ़सील मैं नहीं बता सकता।

मैं...मैं तो अभी बात कर रहा था। मेरी बात पूरी कहां हुई? ...बातें बेशुमार थीं। आपसे करनी थीं। आप जा रहे हैं। देखिए, आपको इस तरह मुझे छोड़कर चले जाना शोभा नहीं देता।

अरे अजनबी! रूको! ...रूको ज़रा। बारिशा तेज़ है। मत जाओ। ...अरे वेटर, उसे रोको। उस अजनबी को। ...हाँ, जो अभी–अभी यहां से उठकर चला गया है।

क्या कहा? कोई भी नहीं था! ...कोई भी नहीं!! क्या कहा? सिर्फ मेरा वहम था। ...मेरा गुमान ...मेरा तसुव्वुर!

फिर मैं...फिर मैं बातें किससे कर रहा था वेटर? ...किससे कर रहा था बातें?

'क्या कहा? ...किसी से नहीं। ... अपने अक़्स से! ...आने अक़्स से! ...ओह माई गॉड! मुझे क्या हो जाता है कभी–कभी!

कहानी

तुम पराये नहीं

● निर्मला सिंह

देह को झुलसाने वाली लू चल रही थी। लम्बी–चौड़ी सड़क पर थोड़े से ही वृक्ष थे; जो लूँ और तपनी धूप से संघर्ष कर रहे थे, कभी–कभी गर्म हवा धौंकनी की तरह चल रही थी, ऐसे मौसम में सवारी की प्रतीक्षा में शम्भू बटेली कालेज के गेट के पास खड़ा हुआ था। दूर–दूर तक कोई भी छांव वाला वृक्ष नहीं था, जहां शम्भू खड़ा होकर थोड़ी छांव पा ले। कभी अपना उचियाता पसीना पोंछता तो कभी बड़बड़ाता बहुत गर्मी है और आज सवारी भी नहीं मिल रही है, कि एकाएक उसके कानों ने आवाज सुनी–

"ओ, रिक्शे वाले स्टेशन चलोगे"

"चलेंगे साहेब"

"कितने रूपये लोगे?

"दस रूपये साहेब!"

"नहीं भई नहीं एक सवारी के दस रूपये नहीं होते हैं, आठ लोगे।"

"साहेब क्या आप दो सवारी के ज़्यादा दे दोगे?"

"नहीं"

कुछ समय के लिये दोनों चुप हो गये। शम्भू अपनी रिक्शा झांड़ने पोछंने लगा, प्रोफेसर साहेब इधर–उधर झांकने लगे, दूर–दूरं तक क्षितिज की भांति रिक्शा भी अप्रात्य लग रहा था। बेमन से प्रो॰ साहेब ने फिर शम्भू से पूंछा–

"क्यों भैया आठ रूपये लोगे..."

शम्भू ने सोंचा सुबह से अब तक केवल बीस रूपये ही कमा पाया हूँ, इतने रूपयों में तो रात का खाना भी नहीं बनेगा, फिर बच्चों को भी रूपये चाहिए उनके स्कूल में मेला भी है, चलो बिठा ही लूँ...।"

"...क्यों भैया बोलते क्यों नहीं?"

"हाँ... साहेब बैठिये।"

हमेशा की भांति सवारी बिठा कर शम्भू गुनगुनाता हुआ चल पड़ा। वह सदा कछुये की तरह अपने ही खोल में रहता है। वह तो बातचीत के शौकीन प्रो॰ साहेब ने उसे अपने खोल से बाहर निकाला—क्यों भई महीने भर की रिक्शा बांध लो। मैं तुम्हें एक महीने के तीन सौ रूपये दूंगा, छुट्टियों भी नहीं कांटूगा बम्म बटेली कालेज से घट, और घट से कालेज पहुँचाना है। सुबह छोड़ जाना, दोपहर को घर ले जाना। थोड़ी देर सोच विचार के बाद शम्भू बोला—वस सर मैं आपको ले लिया करूंगा, छोड़ दिया करूंगा।"

"देखो, भई धोखा मत देना।"

"नो नो सर मैं आपको डिसीब नहीं करूंगा।"

"अरे बेटा, तुम तो पढ़े लिखे लग रहे हो फिर रिक्शा चलाते हो? क्या कहीं नौकरी नहीं मिली?"

जी सर, मैं इन्टर पास हूँ। बहुत खोजी नौकरी कहीं नहीं मिली तब हार कर रिक्शा चलाने लगा, बीबी कोठियों में बर्त्तन साफ करती है। हम दोनों मिलकर गुजारे लायक कमा लेते हैं साहेब।"

"तो क्या तुम्हारे बच्चे भी पढ़ते हैं।"

"जी सर, एक इंगलिश स्कूल में पढ़ते हैं, ईश्वर की कृपा से फर्स्ट या सेकिन्ड आते हैं।"

"बेटा, यह बहुत अच्छा कर रहे हो कि बच्चों को पढ़ा रहे हो, वरना ज़्यादातर तो रिक्शेवाले शराब पीने में और सिनेमा देखने में ही कमाई लुटा देते हैं। लगता है तुम्हारे संस्कार अच्छे हैं तभी तुम्हारी सोच ऊँची है। बेईमानी, चोरी—डकैती से तो मेहनत की कमाई लाख दर्जे अच्छी है।"

"जी साहेब, मरता क्या न करता वाली बात है—नौकरी तो मिली नहीं क्योंकि सोर्स नहीं है, घूँस के लिये रूपये नहीं हैं। साहेब गड्ढा खोदते हैं पानी पीते हैं।" "ठीक है बेटा, मेहनत ही भगवान है, मुझे तुमसे मिलकर बहुत खुशी हुई है, "अरे, रूको घर आ गया। यही ईस्ट लाईट होटल के पास वाली गली में तीसरा मकान है चलो चलो हाँ बस्स, रूक जाओ।"

प्रोफेसर साहेब ने उतर कर शम्भू को दस रूपये का नोट दिया। शम्भू ने दो रूपये वापिस किये, लेकिन प्रोफेसर साहेब ने नहीं लिये।

"अरे नहीं बेटा रख लो, बच्चों के लिये केले ले जाना।"

"नमस्ते साहेब"

"अच्छा, खुश रहो बेटा।"

अभी भी गर्मी के मारे शम्भू का बुरा हाल था, आसमान चिंगारियां बरसा रहा था, धरती आग उगल रही थी। प्रोफेसर साहेब को छोड़कर शम्भू ने सड़क पर लगे हैन्डपम्प से पानी

पिया, फिर मस्ती में गुनगुनाते हुये दो घंटे में चालीस रूपये और कमा लिये। शरीर तो रिक्शा चला रहा था, मस्तिष्क में विचारों के बेलगाम छोड़े दौड़ रहे थे। यह प्रोफेसर शरीफ़ आदमी लगता है, पहिले तो खूब झक्–झक् की फिर दस रूपये दे ही दिये लेकिन उस मोटी अमीर औरत ने तो सुबह हद ही कर दी... साड़ी तो बहुत महंगी पहिनी हुई थी, लेकिन एक रूपये के पीछे मेरा आधा घंटा खराब किया छि: छि: कितने कंजूस होते हैं यह अमीर लोग इनका बस चले तो हम गरीबों के मुंह का कौर छीन लें," सोंचते हुये शम्भू की मन अजीब सी घृणा, वितृष्णाुनफरत से भर गया। मुंह का स्वाद कसैला सा हो गया। पी...पी...पी... कार वाला हार्न दिये जा रहा था। और शम्भू अपने विचारों के आकाश में पक्षी की तरह उड़ रहा था कि एकाएक तेज हार्न से वह ज़मीन पर उतरा।

"अरे ओ रिक्शा वाले का दिखाई नहीं देता है?"

"सारी...सर...सारी"

अबे स्याले अंग्रेज़ी झाड़ता है....

क्यों सर क्या मैं अंग्रेजी नहीं बोल सकता हूँ...?

शीशा देखा है स्याले...अपनी औकात में रह...

"औकात में रह" वाक्य शम्भू के दिल में नश्तर की तरह चुभ गया।

"सर, आदमी की औकात गाड़ी, बंगले से नहीं योग्यता और कर्मों से बनती है मैं भी पढ़ा लिखा हूँ।"

और वह मन ही मन बुद्बुदाता हुआ चलने लगा। उसके पांव घर की ओर चल दिये। दिमाग में बचपन की एक घटना सचित्र आँखों के समक्ष आ गई।

"बापू जी, मेरे इंटर में फर्स्ट आने का ईनाम कहाँ है...?"

"देख बेटा तेरे सामने रखा है...

अरे यह घड़ी है...ओह बाबू जी आप कितने अच्छे ही...काश आप बीमार न होते... बाबू जी मुझे हर समय आपकी बीमारी की चिन्ता रहती है...

न...न...बेटे...तू पढ़ा कर सारी चिन्ताओं का झोला मेरे कंधे पर लटका दे...तुझे पढ़कर बड़ा अफ़सर बनना है।

उस दिन हाथ में घड़ी बांध कर वह पूरे गांव में घूमा था। पांव धरती पर नहीं आसमान पर पड़ रहे थे। आगे ऊँची पढ़ाई के, अच्छी नौकरी के सतरंगी सपने पलकों पर नृत्य करने लगे थे...लेकिन आज क्या है... कुछ भी नहीं सुख ताश के पत्तों केधर की तरह ढह गया बापू मर गया... पढ़ाई छूट गयी... माँ बीमार पड़ गयी... फिर छः महीने बाद ज़बरदस्ती शादी करवा के माँ भी चल बसी... तब से अब तक वह ज़िम्मेदारियों के पहाड़ पर चढ़ ही रहा है चाहतें, उमंगें, उत्साह के भोले भाले पक्षी उड़ चुके हैं उसके मन की डाल से अब तो वह काम करता है...बच्चों के भविष्य की सोचता हूँ।

वैसे शम्भू आत्मनिर्भर, आत्मसंतुष्ट व्यक्ति है, लेकिन आज फिर वह व्यथित हो गया है...अपनी औकात में रह वाक्य उसे रक्त रंजित कर रहा है...एक मरे हुये चूहे की भांति वह धीरे–धीरे चल कर घर में घुसा है, अपनी औकात में रह वाक्य बुद्बुदा रहा है। इस दशा में गौरी उसको देखते ही परेशान हो उठी। जैसे ओस लगे पांव में मिट्टी चिपक जाती है, शम्भू से भी उसकी पीड़ा, व्यथा, वेदना से चिपकी हुई थी उसके हाथ से झोला और टिफिन पकड़ कर गौरी ने आंगन में लगे नल के पास रखा, शम्भू के बैठने के लिये चारपाई बिछा दी और दौड़ क से ठंडा पानी लाकर पीने के लिये दिया...गटागट शम्भू दो–तीन गिलास पानी पी गया फिर आँखें मूंद कर चारपाई पर ही पांव पसार कर लेट गया, गौरी सिरहाने बैठ कर पंखे से हवा झलती रही। थोड़ी देर शम्भू को, फिर पास खड़े बच्चों को देखते हुये बोली–

यह क्यों गुम सुम लेटे हो? क्या तबियत खराब है या किसी ने कुछ कह दिया है...कुछ तो बताओ।

"क्या बताँऊ तुझे...यहां तो हर समय अपमान और जिल्लत की ज़िन्दगी जीनी पड़ रही है" आश्चर्य चकित सी गौरी बोली–

क्यों हमारी जिन्दगी तो किसी भी तरह अपमान और जिल्लत की नहीं है। मेहनत की कमाई हम लोग खाते हैं और मेहनत करने में कोई भी शर्म नहीं है। यह आज आपको हो क्या गया है। आप लेटे रहो, मैं चाय बनाकर लाती हूँ।

"नहीं, मैंने नहीं पीनी चाय आज तो सारा दिन बकवास में ही बीता सुबह–सुबह पुलिस वाले से झड़प हो गयी, फिर यह गाड़ी वाले ने अपमान किया...क्या हम गरीबों की कोई इज्जत आबरू है ही नहीं, जिसके जो मन में आता है कहता रहता है।

क्या कहा पुलिस वाले ने?

अरे, वह एक जवान लड़की को छेड़ रहा था, मुझसे देखा नहीं गया, मैं बीच में बोल पड़ा...मैंने उसको मना किया तो वह स्याला मेरी पिटाई करने लगा...

वाह! भई वाह! यह भी खूब रहीं, उल्टा चोर कोतवाल को डांटे'। गलती वह कर रहा था, ओर पिटाई भी उसने आपकी की।

पराङ्मुखता और बेबसी की जंजीरों में जबड़ा हुआ शम्भू बोला–

"...तो फिर मैं कर भी क्या सकता था? एक रिक्शे वाला जो हूँ। अगर अभी कोई अमीर आदमी होता तो पुलिस वाला उसकी परिक्रमा करता घूमता।"

"हाँ यह तो आप ठीक कह रहे हो। एक बात कहूँ, बुरा तो नहीं मानोगे। "

"बोल, क्या कह रही है तू?"

"रिक्शा, चलाने के साथ कोई और काम कर लो।"

"क्या करू डांका डालू, चोरी करूँ, स्मगलिंग करूँ" क्रोध में शम्भू अपने को असंयत कर बैठा था।

नहीं मेरा मतलब है कोई छोटा सा खोखा ले लो या इसी में अपनी बाहर वाली कुठरिया में बेचने के लिये समान रख लो।"

"हाँ।। बात तो तू ठीक कह रही है"

"अच्छा, चाय लाऊँ।"

"हाँ ... जा ले आ बना कर।"

जैसे ही गौरी चाय बनाने गई, शम्भू के छोटे–छोटे मृग छौनों से बच्चे उसके दांये, बांये आकर खड़े हो गये, अपना–अपना रिज़ल्ट दिखाने लगे। बच्चों का रिज़ल्ट देखकर शम्भू की सूखे मरूस्थल सा हृदय बाग की बहार हो गया। बेटा क्लास में फर्स्ट आया था, बिटिया सेकिन्ड।

एक अज़ीब सी खुशी, प्रफुल्लता की तरंगें शम्भू के आभ्यांतर में उठने लगी, उसकी आँखें खुशी से द्रवित हो गयी। संतोष और शांति के फूल खिलने लगे, महकने लगे। निराश और हतोत्साह के रेंगते कीड़ों को उसने नये विचार के पांव से कुचल दिया। मौसम से बदले चेहरे को गौरी ने देखा, वह भी मुस्कुरा दी। दोनों पति–पत्नी बच्चों को प्यार करने लगे।

अपनी प्यारी बिटिया के बालों को सहलाते हुये शम्भू ने पूछा–

"मेरी रानी बिटिया तू पढ़ लिखकर क्या बनेगी?"

"पापा...पापा मैं तो सिंह आंटी की तरह खूब बड़ी डाक्टर बनूंगी खूब बड़ा पर्स लूंगी, अपनी गाड़ी में अस्पताल जाया करूगी।" बरसात में नाचते हुये मोर की कांति झूमती हुई बिटिया बोली। बिटिया का वाक्य पूरा होते ही बेटा तपाक् से बोला–

"मैं तो प्रोफेसर बनूंगा उन अंकल जैसा जिन्हें आप कालेज ले जाते हो।"

"अच्छा, मेरे प्यारे बच्चों इतनी समझदारी की बातें तुम्हें कौन सिखाता है।"

उछलते–कूदते बच्चे बोले–"हमारी मम्मी"

बच्चों का उत्तर सुनकर पति–पत्नी समवेत् हंस दिये और बच्चे अपने–अपने चाय के कप लेकर अंदर वाली कोठरी में चले गये। शम्भू भी चाय पीने लगा। गौरी अपना चाय का प्याला लेकर चूल्हे के पास जाने लगी तो शम्भू ने कस कर हाथ पकड़ कर अपने पास बिठा लिया–

"अरे भई कहाँ जा रही हो? जरा पास बैठो कुछ देर।"

"सोच रही हूँ दिन के रहते रहते खाना बना लूँ। आज तो शनिवार है, बच्चे पड़ोस वाली, आन्टी के घर जाकर टी.वी. देखेंगे।" गौरी के हाथों पर चुंबन अंकित करते हुये शम्भू ने कहा–"तुम बहुत सुलझी हुई, समझदार स्त्री हो। अब देखो न तुम्हारी राय से शायद हम लोगों की ज़िन्दगी बदल जाये, लेकिन कुछ रकम उधार लेनी पड़ेगी" उसकी चिन्ता तुम मत करो, मैं मत करो, मैं अपनी मेम साहेब से ले आऊंगी।" गौरी की बात सुनकर शम्भू ने गौरी को ऐसी स्नेहिल दृष्टि से देखा, जिसमें तीनों लोकों का प्यार समाहत था, गौरी का सर्वांग

बाहर से अंदर तक प्रेम में डूब गया प्रेम प्रसंग बढ़ने से पूर्व ही वह खाना बनाने चली गई, बच्चे अंदर वाली कोठरी में होय वर्क करने लगे। कुछ दिनों बाद शम्भू ने बाहर वाली कोठरी में छोटी सी रोज़मर्रा की चीज़ों की दुकान लगा ली, सुबह रिक्शा चलाता, शाम को दुकान पर बैठता, काम खत्म करके बच्चों को खाना खिलाकर पति–पत्नी थोड़ी देर गप्पें लड़ाते, दुःख सुख बांटते उधर बच्चे अपने आप सो जाते...बाद में पति–पत्नी भी, लेकिन रात को वह उतारी गौरी पीठ देखकर कांप गयी" अरे ये इतने नील, इतनी सूजन यह सब कैसे हुआ?" आँखों से आँसुओं की बूंदें टपकने लगी।

"यह पुलिस कर्मी की मार के निशान है"

हाय...हाय नास हो नासपीटें का...मरा कुत्ते की मौत मरेगा जिसने तुम्हारी अकारणा पिटाई की है। हम गरीबों को तो कोई पूंछता ही नहीं है हम अमीरों की और कुर्सी की ही पूंछता है...

गौरी बड़बड़ाती जा रही थी और आयोडैक्स चोरों पर लगानी जा रही थी। प्रसंग हुये शम्भू हंस कर बोला—मैडम आप भी क्रोध के जंगली जानवर को एक पिंजरे में कैद करके ताला लगा दो तभी सुख से जी पाओगी वरना यह गुर्राता रहेगा... शोर मचाता रहेगा और हम लोग चैन से जी नहीं पायेंगे। अरे, तुम कह रही थी गरीबों को कोई नहीं पूंछता है—

"लो इधर आओ...मेरे पास रानी तुम्हें हम पूंछते हैं।" कहते ही शम्भू ने गौरी को आलिंगन में बांध लिया। गौरी के कपोल इंगूट से लाल हो गये, आँखें शराबी और समूची देह प्रेम की वरसात में भीगने के लिये लालायित। इससे पहिले कि शम्भू गौरी के साथ हम बिस्तर होना चाहे गौरी थाली में खाना परोस कर ले आई। मुँह हाथ धोकर शम्भू खाना खाने लगा। पहला कौर मुंह में डाला तुरन्त स्वादिष्ट भोजन ने अपना प्रभाव दिखा दिया। बिना कहे शम्भू रह नहीं पाया—

कसम से तू जितनी सुंदर है उतनी गुणी भी। कितनी टेस्टी दाल सब्जी बनाई है और वह चखी भी आज बहुत बढ़िया बनी है "बास–बास रहने दो जी आप तो हर समय तारीफ़ ही करते रहते हो..."

जा तभी खाना परोस ला। खा ले। बच्चे भी सो गये है और आज तो मौसम भी रंगीला सा होने लगा है...कितनी अच्छी–मात्र हवा चल रही है..." कहते ही शम्भू ने गौरी की ओर प्रेमरस में पगी दृष्टि से देखा—बातें करते करते दोनों खाना खा चुके। कुछ पलोपरांत शम्भू ने गौरी को बाहुपाश में कस लिया...यह कसाव शनैः शनैः वैहिक एकीकरण में बदल गया। गौरी और शम्भू के निस्केवल नेह ने, ताता थैथ्या नृत्य करती हुई चारू–चंचल चांदनी के, उस रात को सुहानी, मृदुल और सुगंधित बना दिया। प्रेम की सगंध घर–बाहर विकर्णित होने लगी। गरीबी–विवशतायें प्रेम के राजा को देखकर जंगल के कोने में जाकर दुबक गयी।

सुबह सूर्य की किरणों ने ही शम्भू की आँखें खोली, बाहर देखा आंगन के कोने में नल के पास ही गौरी स्नान कर रही थी। उसकी सांवली लयात्मक देह सूर्य की किरणों के चुबन

से आकर्षक लग रही थी। वह गुनगुनाती जा रही थी, लोटों से देह पर पानी डालती जा रही थी। शम्भू उसकी ओर एकटक देखता रहा...देखता रहा...।

गौरी ने झिड़क कर कहा–"यह क्या देख रहे हो टुकुर–टुकुर। उठो अपना काम करो"।

"बस्स यों ही देख रहा हूँ अपनी संजीवनी बूटी को"

उस दिन के बाद से शम्भू खुश रहने लगा। उसने विस्मृति के जंगल में चिन्ता, व्यथा, पीड़ा के जंगली जानवरों को छोड़ दिया और यथार्थ की शहरी दुनिया में जीने लगा। धीरे–धीरे करके दुकान चलने लगी, बिक्री के बढ़ने से शम्भू ने लिया हुआ उधार चुका दिया। रहन–सहन का थोड़ा स्तर बढ़ने से मोहल्ले में इज्जत भी बढ़ गयी।

प्रोफेसर साहेब और शम्भू के बीच तो शुरू से ही गरीबी–अमीरी की दीवार नहीं थी। दोनों खूब घुलमिल कर बातें करते हैं। बातों के विषय तो चूल्हे चौके से लेकर राजनीति तक पहुँच जाते हैं। अक्सर वह प्रोफेसर साहेब के घर चाय भी पी लेता है। गर्मी–सर्दी बरसात किसी भी मौसम की परवाह नहीं करता है शम्भू। अपनी डयूटी का पक्का पाबन्द है।

उस दिन गर्मी अपनी इयत्ता पार कर चुकी थी, सड़क के एक किनारे बड़ी मुश्किल से जगह करके, शम्भू नीम की छांव तले खड़ा था। शर्मा जी की प्रतीक्षा में उसकी आँखें, सड़क, दुकानों, सहगीरों पर से घूमती हुई पैन्डुलम की तरह से कालेज के गेट पर जाकर टिक जाती।

लगभग आधे घंटे प्रतीक्षा करने के बाद शम्भू ने देखा एक टिमटिमाते दिये सा कांतिविहीन चेहरा लिये प्रो॰ शर्मा चले आ रहे हैं। चिन्ता, व्यथा और आशंका की असंख्य लकीरें उनके चेहरे पर खिंची थी, चाल में तेजी थी। वह कभी दांये, तो कभी बांये झाकते और कभी पीछे मुड़कर देखते। शम्भू समझ गया कि दाल में काला है, वह जल्दी से लपक कर आगे बढ़ा और प्रोफेसर साहेब को खींच कर रिक्शे तक ले आया, लेकिन डंडों का प्रहार जो प्रोफेसर साहेब के सिर पर पड़ना था, शम्भू के कंधों पर पड़ने लगा। उसने शोर मचाया चौराहे की पुलिस जब तक आई, गुंडे भाग गये। शम्भू की अपेक्षाकृत प्रो॰ साहेब के चोट नहीं के बराबर लगी। शम्भू की चोटों से रक्त बहने लगा। ठीक उसी समय प्रो॰ साहेब के एक मित्र प्रो॰ सिहं पीछे गाड़ी में आ रहे थे, यह शोर शराबा, मारधाड़ देखकर उन्होंने गाड़ी रोक ली, शम्भू को गाड़ी में डाला और प्रो॰ शर्मा पर रोध प्रकट करने लगे–

देख लिया न आज आपने अपनी ईमानदारी और शराफ़त का नतीज़ा। यह सब उन्हीं लड़कों की करामात है, जिन्हें आपने नकल करते समय पकड़ा था। वह तो आज आप बच गये, इस रिक्शे वाले की वज़ह से, वरना आज ही ढेर हो जाते।

अब छोड़ो भी यार! बहुत हो गया चलो जल्दी चलो इसे अस्पताल ले चलो।

अब अस्पताल में तो पुलिस केस बनेगा...

वह सब मैं देख लूंगा यार! मेरी जान पहिचान है चलो यही पास में श्री वास्तव की अस्पताल है वहीं चलो।

शम्भू ने पूरी बात नहीं सुनी–बीच ही में बोल पड़ा–नहीं...नहीं मैं सरकीटी अस्पताल नहीं जाऊंगा...पुलिस केस बन जायेगा...कोर्ट कचहरी के चक्कर लगाने पड़ेगे...

हाँ।। तुम ठीक कहते हो नहीं बेटा हम लोग प्राईवेट अस्पताल चल रहे हैं थोड़ी देर गाड़ी में चुप्पी हवा के पंखों पर बैठ कर आ गई।

प्रो॰ सिंह ने गाड़ी चलाते हुये ही बात शुरू की...यह समझ में नहीं आ रहा है कि अब इन गुंडों, बदमाशों को कैसे काबू किया जाये...उधर पचास प्रतिशत आरक्षण ने जीना हराम कर दिया है।

हाँ।। तुम ठीक कह रहे हो...विचारे योग्य और विद्वान विद्यार्थी सैलेक्शन में रह जाते हैं... क्योंकि इन गुंडों, नेताओं की सिफारिश वाले और आरार्दात विद्यार्थी ही चुनने पड़ते हैं।

पता नहीं क्या होगा हमारे देश का भगवान ही मालिक है...

खैर जो होगा अब तो इस बिचारे शम्भू को डाक्टर को जल्दी दिखाना है...देखो खून अभी तक बह रहा है....

बातों ही बातों में अस्पताल आ गया। काफी चोटों के कारण मरहम–पट्टी और दवा–दारू में कई घंटे लग गये। जब तक उसे अस्पताल से छुट्टी नहीं मिली एक पिता की भांति प्रो॰ शर्मा सेवा करते रहे। उनके अपार प्यार, सेवा और त्याग के कारण शम्भू ने अपने घट को सूचना भी नहीं भिजवाई।

लगभग तीन–चार घंटे बाद बड़ी मुश्किल से प्रो॰ शर्मा, प्रो॰ सिंह उसे पकड़ कर ओसार तक ले गये, क्योंकि छोटी, कच्ची, उबड़खाबड़ गली के कारण कार का पहुँचना घर तक अंसभव था। जगह–जगह कूड़े–कचरे के ढेर, मक्खियों की भिन्न–भिनाहट और सुअरों की भीड़ के कारण उन लोगों का दिमाग घूम सा गया।

"यहाँ रहते हो शम्भू तुम? कैसे रह लेते हो इनकी गंदगी में?

"क्या करें साहेब जीना पड़ता है, मजबूरी है। थोड़ी सी कमाई में ही घर संभालनाहें, बीवी–बच्चे पालने हैं और बच्चों का भविष्य भी बनाना है।"

हाँ।। बेटा तुम ठीक कह रहे हो। इंसान को हालात से समझौता करना चाहिये।

दरवाजे तब पहुँचने से पूर्व ही शम्भू की बीवी गौरी दौड़ती हुई आ गई–"हाय...हाय... यह क्या हो गया इन्हें...यह कपड़े खून से लथपथ क्यों हैं? बोलो साहेब जी, यह पट्टियाँ यह खून यह सब क्या है? वह असमान्य हो बड़बड़ाने लगी।

उतायल ही आंगन सेरकर खींच कर कोठरी तक ले गई, शम्भू को शर्मा जी और सिंह सादेव ने लिटाया लेकिन गौरी की डटी–डटी आँखें, खुले वालों, सूखे भुरभुरे चेहरे को देखकर घबड़ा गये, उसके सिर पर हाथ फेर कर सांत्त्वना देने लगे। शम्भू के त्याग और साहस का पूरा किस्सा सुनाया और गौरी से गरम–गरम दूध मंगाकर उसे अपने ही हाथों से पिलाया। ऊंधे–ऊंधे कंठ से बोले–बेटी जो कुछ भी शम्भू ने मेरे लिए किया है, सगा बेटा

भी नहीं कर सकता है तुम बहुत भाग्यशाली हो, जो इतना अच्छा, नेक पति पाया है। रूपये–पैसे इसके प्यार के आगे कुछ भी नहीं हैं...फिर भी फल और दवा के लिये यह 500 रूपये रख लो। गौरी ने बहुत ना नुकुर की, लेकिन प्रो॰ शर्मा पर्वत की भांति स्थिर हो गये। एक बार गौरी, एक बार शम्भू के सिर पर हाथ फेर कर दवित नयनों से चल दिये, प्रो॰ सिहं तो दरवाज़े पर पहिले से ही खड़े थे।

उस दिन के बाद से अनुदिन प्रो॰ शर्मा दिन में एक बार शम्भू को देखने आते, कभी, कभी दूध के पैकेट, कभी मिठाई कभी बिस्किट, कभी ब्रैड अपने साथ लाते। गौरी भी अब शम्भू की भांति निःसंकोच उनसे वार्त्तालाप कर लेनी। घनिष्टता की सीमा चाय की प्याली तक आ गई। प्रो॰ शर्मा की पितृतुल्य प्यार पाकर शम्भू और गौरी का हृदय सरिता से सागर बन गया। खुशी, निश्चिन्तता और संतुष्टि के फूल गौरी के चेहरे पर खिले रहते, महकते और उनकी महक पूरे मोहल्ले में चर्चा का केन्द्र बन गई–

"हाय...हाय...देखो तो गौरी का मर्द खटिया पर और ये रंगीली रासरंग करती है उस अधेड़ उम्र में प्रोफेसर के साथ"

"अरे...रासरंग क्या अब तो रातें भी उसी के साथ बिताती होगी...अब तो शम्भू जिंदगी भर रोयगा"। "रायेगा क्या है बहिन यह औरत तो शम्भू के लिये लाटरी का टिकट बन गयी वह भी जीता हुआ"। "अरे... कम से कम छिनाल ने अपने बच्चों का ही ख्याल कटलिया होता ... इस उम्र में धोखा दे रही है अपने मर्द को...पापिन है पता नहीं क्यों इसका मर्द इतना बेवकूफ है?" "मैं तो कहूँ नामर्द है।"

ऐसी अनर्गल बातें उड़ते–उड़ते शम्भू–गौरी और प्रो॰ शर्मा के कानों तक पहुँची। सुनते ही लगा पहाड़ खर–खराकर नीचे गिर गया है...या किनारे लगी नांव बीच धार में डगमगा रही है... लेकिन नहीं तेज हवायें, आँधियाँ पहाड़ को नहीं गिरा सकते...कभी–कभी सुद्धढ़ वृक्ष भी आँधी–तूफान सह लेते हैं और खड़े रहते हैं मौन तपस्वी की भांति अपनी तपस्या में...अपनी साधना में व्यर्थ को अनर्गल बातों से प्रो॰ शर्मा का पितृतुल्य स्नेह जो बराबर भी कम नहीं हुआ। इतना ढेर सारा पिता के समान प्यार पाकर गौरी और शम्भू जीवन को धन्य समझ रहे थे। एक दिन उनके प्यार में बांवला सा होकर शम्भू बोला–

सर...सर...यह जो आपने किया है...कोई बाप भी नहीं करता है अब बहुत हो गया सर "अरे, मैं तो अपना फ़र्ज कर रहा हूँ बेटा...। तुम मेरे लिये कर्ण का कवच–कुंडल बन गये। भगवान तुम्हें खूब खुख दें...लो यह गाँव के पास वाला छोटा सा घर और थोड़ी खेती के लिये ज़मीन मैं तुम्हें दे रहा हूँ। बेटा, तुम तो बड़े अफ़सर न बन सके लेकिन अपने बच्चों को खूब पढ़ाना–लिखाना शायद वह अफ़सर बन जायें...भगवान करे तुम्हारी सारी इच्छायें, तुम्हारे सपने पूरे हो जायें और तुम्हारा बेटा शंकर से शम्भू न बन पाये जैसा तुमको बनना पड़ा।"

"नहीं...नहीं...यह क्या कह रहे हैं सर मैं ठहरा गरीब आदमी इतना सब कुछ संभाल नहीं पाऊंगा..."

कंधे थपथपाते हुये प्रो० साहेब बोले—"बेटा जब तुम्हारे पिता जी थे सभी कुछ था तुम्हारे पास...माँ की बीमारी, पिता की बीमारी और दोनों की मृत्यु के कारण ही तुम खाली बर्त्तन से रिक्त हो गये...एक बात कहूँ बेटा जो तुमने किया सगा बेटा भी आज के कलयुग में नहीं करता है"।

पांव छूते हुये शम्भू ने कहा—सर, मैंने तो अपना कर्त्तव्य निभाया था...।"

अतिरेक प्यार से शब्द अवरूद्ध से हो गये, नयन गीले..., हल्की वाणी में प्रो० शर्मा बोले—"बेटा, मानो तो पराये भी अपने है, और न मानो तो अपने भी पराये। सच बताऊँ मेरा एक ही बेटा और बहू है जो जायदाद में अपना हिस्सा लेकर इसी शहर में अलग रह रहा है ...इतना सब कुछ हुआ वह दोनों देखने तक नहीं आये...। खैर...बेटा, मैं तो अब कगारे का वृक्ष हूँ पता नहीं कब खर...खरा कर नीचे गिर जाँऊ...तुम मेरे लिये पराये नहीं हो तुम मेरे अपने हो..."।

शम्भू ने सोचा भी न था कि एक बूंद सागर बन जायेगी...एक बिन्दु वृत्त। प्रो० शर्मा के अथाह असीमित फार वश गौरी और शम्भू के नयनों से अश्रुनिःसृत होने लगे।

और दोनों के सिर पर हाथ फेर कर प्रो० शर्मा चले गये...थोड़ा—थोड़ा बुद्बुदा रहे थे ...तुम मेरे अपने हो..., मेरे अपने हो, तुम पराये नहीं...।

कहानी

पिंजरा

● जसविंदर शर्मा

हर बरस जून के महीने में इस घर में वसन्त लौटती थी। लक्ष्मी तो मानो खिल उठती। उन दिनों लक्ष्मी के दोनों बेटियां अपने बच्चों समेत अपनी मां के पास महीना–भर रहने आती थी। घर में खूब चहल–पहल रहती थी। लक्ष्मी अपने नाती–नातिनों से खेलते–बतियाते थकती नहीं थी। पूरा दिन उनके लिए कभी डोसा, रस–मलाई, आईसक्रीम, कस्टर्ड, चना–पूरी या दही–भल्ले बनाने में व्यस्त रहती। गजब की फुर्ती आ जाती थी उसमें।

सात मंजिल वाले जलवायु विहार नामक आवासीय फ्लैट्स के तीसरे तल पर रहती थी लक्ष्मी। पिछले दस वर्षों से वह यहां अकेली ही रहती थी। वर्ष के एकाध महीने में उसके घर खूब रौनक रहती थी। बीच–बीच में हफ्ता दस दिन के लिए अपनी दोनों लड़कियों में से किसी किसी एक के पास चली जाती थी। फोन पर बातें करके या आस–पास थोड़ी देर बतिया कर वह अपने फ्लैट में चुपचाप–सी बन्द रहती। गाँव से कोई रिश्तेदार या नाती आ जाता तो लक्ष्मी का समय कुछ दिन हंस–खेल कर गुजर जाता।

लक्ष्मी के पति गोपाल वर्मा काफी रोब–रुतबे वाले आदमी थे। हिमाचल में ऊना के पास उनका पुश्तैनी घर था। पचास के दशक में मैट्रिक करके बैंक में क्लर्क भर्ती होकर वह महानगर में आए थे, शुरू–शुरू में अपने इलाके में ट्रांस्फर करवाने की बहुत कोशिश की, मगर उधर इस तरह के बैंक कम थे। बाद में इसी महानगर में रच–बस गए। यहां के जीवन के इतने आदी हो गए कि फिर हिमाचल की तरफ पलट कर नहीं देखा।

लक्ष्मी पंजाब के एक गांव की थी। शादी हुई तो कुछ दिन उसे ससुराल में रहना पड़ा। घर में खेती थी, संयुक्त परिवार था, जिम्मेवारियां थी, ननद–देवर छोटे थे। ढोर–डंगर का खासा काम था। सास–ससुर को डर था कि बहू अगर लड़के के साथ बड़े शहर चली गई तो फिर पक्का बिछोड़ा समझो। वहां साफ सुथरे माहौल में रहने लगेगी तो गांव का रुख न

करेगी। मदन गोपाल बाबू भी जिद पर अड़े रहे। पहले तो होटल का खाना खा लेते थे, कभी–कभार खुद भी बना लेते। मगर जब से शादी हुई थी यह सब अखरने लगा था। साथ वाले भी ताना देते कि पत्नी को गांव छोड़ आए हो, यहां एक शादी और कर लो। आकर गांव में सत्याग्रह पर बैठ गए। नौकरी छोड़ देने की धमकी दे डाली। मां बाप को मजबूरन लक्ष्मी को भेजना पड़ा।

लक्ष्मी को शहर लाकर ही दम लिया उन्होंने। लक्ष्मी तो गांव की सीधी–साधी लड़की थी। मदन गोपाल अब तक शहरी रंग में पक चुके थे। लक्ष्मी से उन्हें अगाध प्रेम था। लक्ष्मी थी भी सुन्दर और सुघड़। खाना बनाने में माहिर, बोलती तो रस टपकता था। धीरे–धीरे लक्ष्मी शहर के माहौल में रच–बस गई। गांव के सारे सम्बन्ध सिमटते चले गये। कभी–कभार ब्याह शादी या गमी में जाना होता। लड़कियों को खूब मन लगाकर पढ़ाया था उन्होंने। अच्छे घरामें में उनके रिश्ते किये तथा अच्छी शादी की।

मदन गोपाल ने शादी के बाद अच्छी खासी उन्नति की। अच्छे ग्रेड में पहुंच कर अच्छा पैसा जमा किया। घर बनाने की योजना पहले उन के मन में नहीं थी, सोचा था कि पुश्तैनी गांव में जा बसेंगे। जब से बच्चियों की शादी इधर बड़े शहरों में कर दी तब से इस महानगर से उनका मोह बढ़ता जा रहा था। मदन गोपाल अच्छी–खासी पेंशन लेकर रिटायर हुए। काफी पैसा भी मिला उन्हें। पहले तो बैंक की कालोनी में रहते थे। अब एक हाऊसिंग फ्लैट को खूब अच्छी तरह रूचि के अनुसार फर्निश करवाया तथा प्रेम से रहने लगे। अभी दो वर्ष ही गुजरे होंगे कि एक बस दुघर्टना में मदन गोपाल चल बसे। लक्ष्मी तो नितांत अकेली पड़ गई। उस पर तो दुखों का पहाड़ टूट पड़ा। पहला वर्ष उस की लड़कियों तथा गांव के नजदीकी रिश्तेदारों ने मिल जुल कर निकलवाया। बाद में तो लक्ष्मी को अकेले ही रहना था। उस हाऊसिंग सोसायटी में लक्ष्मी के आस–पड़ोस में ज्यादातर जवान स्त्रियां ही थी। कुछ नौकरी पेशावालियाँ, तड़क–भड़क वाली गृहणियां थी जो हर दिन किट्टी पार्टियों या शॉपिंग में व्यस्त रहती थी। यहां लोगों का जीवन बहुत तेज–रफ्तार होता जा रहा था। घर आकर लोग टी॰वी॰ में खो जाते। आसपास फ्लैट्स में वृद्ध स्त्रियां थी नहीं। बहु–बेटे उन्हें रखते ही नहीं थे। जिन तीन चार फ्लैट्स में उस की हम–उम्र स्त्रियां रहती थी, वहां भी धीरे–धीरे घरेलू झगड़ों के कारण वृद्ध लोग गांवों को लौट गए। यहां की संस्कृति उन्हें रास नहीं आती थी। कोई उनसे बात तक करने को राजी नहीं होता था। यहां बातचीत का माध्यम अखबार था, फोन था, क्लब था, टी॰वी॰ था।

इस एकांकी जीवन में बस सफाई वाली ही लक्ष्मी के सुख–दुख की साथी थी। वह उसे आस–पड़ोस में बसने वालों की खबरें सुनाती तथा उस के साथ कुछ पल हंसी–खुशी गुजारती। अपनी बेटियों की खबर वह फोन पर हर हफ्ते लेती रहती थी। खाना लक्ष्मी खुद बना लेती थी, कभी बीमार हुई तो सफाई वाली बना देती। धर्म–कर्म में लक्ष्मी का मन उतना नहीं लगता था। मदन गोपाल धर्म के मामले में काफी सुलझे हुए थे। अन्ध–विश्वास जरा

भी नहीं था उनमें। उन्हीं से लक्ष्मी ने काफी कुछ सीखा। घर पर ही धार्मिक पुस्तकें पढ़ लेती तथा सुबह शाम घर के छोटे से मंदिर में दीया–बाती कर लेती। सुबह सैर करने की शौकीन थी लक्ष्मी।

लक्ष्मी के नाती–नातिन थोड़े बड़े हुए तो उसकी लड़कियों का इधर लक्ष्मी के घर आना जाना कम हो गया। बच्चे बड़ी क्लासों में थे। वही मार–काट स्पर्धा। स्कूल से आते तो कोचिंग चले जाते। लक्ष्मी का सारा ध्यान उन में ही लगा रहता। और था भी कौन उसका। पीछे अपने गांव में मां–बाप, सास–ससुर व चाचा–ताऊ सब गुजर चुके थे। भाई–बहन देवर जेठ व ननद–देवरानी सब अपनी–अपनी गृहस्थियों में रच–खप गये थे।

नातियों की शादी पर खूब नाची, इतराती रही वह। बाद में चाहे दस दिन बिस्तर से नहीं उठी थी वह। उसने बहुत कोशिश की कि नाती व उसकी बहू लक्ष्मी के पास रहे। इतना बड़ा फ्लैट है उसका। सुख–सुविधा की हर चीज है उसमें। दोहते का कारोबार ही अपने शहर में था। हर रोज यहां से आता जाता तो चार–पांच घण्टे सफर में लग जाते। कुछ दिन लक्ष्मी सफर में लग जाते। कुछ दिन लक्ष्मी के पास ठहर कर वे अपने शहर लौट गए।

धीरे–धीरे लक्ष्मी के हाथ–पैर रूकने लगे। आंखों की रोशनी कम हो गई। चेहरा झुर्रियों से भर गया। बाल पूरी तरह सफेद हो गये। उम्र अस्सी से ऊपर चली गई। अकेलेपन से सारी शक्ति हर ली थी। लड़कियां तो अपनी बहुओं व दामादों के लाड़–चाव में मस्त थी। बूढ़ी कमजोर मां के पास आकर कौन रहता भला। आस पड़ोस का माहौल अब उतना सौहार्दपूर्ण नहीं रह गया था। चूहा–दौड़ में सब को आगे निकलने की जल्दी थी। ऐसे में लक्ष्मी के पास बैठ कर दो घड़ी बतियाता, सुख–दुख सांझा करता। बस टी॰वी॰ के सहारे लक्ष्मी के दिन भी कटते जा रहे थे। अब तो सैर करने से भी वह वंचित हो गई थी। घुटनों में दर्द रहने लगा था उसे।

साफ–सफाई वाली सुबह आठ बजे तक आ जाती थी। एक दिन काफी देर घण्टी करने के बाद भी जब लक्ष्मी ने दरवाजा नहीं खोला तो सफाई करने वाली लड़की वापिस लौट गई। बहुत देर तक घंटी मारने के बाद भी दरवाजा नहीं खुला। दरवाजे का ताला आधुनिक विधि का था। पता नहीं चलता था कि अन्दर से बन्द किया गया है या बाहर से। तीसरे दिन भी बेल करने पर कोई उत्तर न मिला तो सफाई वाली लड़की का माथा ठनका। कहीं जाना होता तो लक्ष्मी बीबी उसे बता ही देती अगर वह लड़की के घर जाती तो। सफाई वाली लड़की ने पड़ोस के कपूस साहबं को बताया।

कपूर साहब ने पड़ोस के तीन चार मौजिज लोगों को साथ लिया। पुलिस बुला ली गई। दरवाजे का ताला तोड़ा गया। घर के अन्दर के भयानक हादसे को देखकर सब का दिल दहल गया। घर का सारा समान इधर–उधर बिखरा हुआ था। जगह–जगह खून का ढेर। चोरी के लालच में किसी ने लक्ष्मी का खून कर दिया था। लाश से बू आ रही थी।

लक्ष्मी की लड़कियां व दामाद आए। पुलिस कई दिन तक तहकीकात करती रही। मगर कातिलों का कोई सुराग नहीं मिला।

लक्ष्मी की लड़कियां अपनी वृद्ध मां को कब तक रोती रहती। उन के व्यापार के कई टंटे थे। छोटी ने पति का बिजनेस संभाला हुआ था। दोनों बहनों ने मिल बैठ कर तय किया कि लक्ष्मी के फ्लैट की सभी चीजें नीलाम कर दी जाएं। सुप्रीम ऑक्शनर के लक्ष्मी के बेरौनक से घर की सभी चीजें अच्छे दामों में खरीद ली। तीन दिन बाद रॉयल एस्टेट की तरफ से कइ पार्टियां उस फ्लैट को देखने आई तथा हफ्ते के अन्दर ही वह फ्लैट चालीस लाख का किब गया। कुछ दिनों में लक्ष्मी का कत्ल क्या हुआ उस उदास और सूने घर का नसीब भी बदल गया। वहां एक खाती–पीती, भरी–पूरी फेमिली रहने आ गई। लक्ष्मी विला से मिलने वाले सारे पैसे का हिसाब हुआ। खर्चा घटा कर बाकी की रकम आधी–आधी बांट लेने के बाद चाबियां नए मकान मालिक को सौंप कर लक्ष्मी की दोनों बेटियों ने अच्छे होटल में लंच किया और शाम को अपने अपने शहर के लिए शताब्दी ट्रेन पकड़ी। उससे पहले अमेरिकन एक्सप्रेस बैंक से ड्राफ्ट उन्होंने बनवा लिए थे। लक्ष्मी का वह मकान अब आबाद हो गया। पहले वहां कभी–कभी कह कहे सुनाई देते थे जब उसकी बेटियां लक्ष्मी के पास रहने आती थी। कुछ दिन तक आस पड़ोस में चर्चा रही व अखबारों में वृद्ध लोगों को असुरक्षित जीवन पर लेख छपते रहे। लक्ष्मी की मौत के साथ ही उस उदास घर की भी मौत हो गई।

● राजेश विद्रोही की दो ग़ज़लें

इसी शहर में

बुझते दिये जलाने वाले इसी शहर में रहते हैं।
जलते दिये बुझाने वाले इसी शहर में रहते हैं ....।

अखबारों में छपी ख़बर ये, मैंने कुछ भी नहीं कहा।
आपस में लड़वाने वाले इसी शहर में रहते हैं ....।

पैसे फेंको कुछ कहला लो, सोहर, बन्ने, अभिनन्दन
फ़रमाइश पर गाने वाले इसी शहर में रहते हैं ....।

ज़र ज़मीर जोरू क्या होता, चाहो तो ज़मीर बेचो
सबका मोल चुकाने वाले, इसी शहर में रहते हैं ....।

गिरगिट भी हैं, बगुले भी हैं, मगरमच्छ भी, अज़गर भी,
सारे रंग दिखाने वाले इसी शहर में रहते हैं ....।

अपनी अपनी नेह–डगर की पहरेदारी करिये खुद,
कुछ दीवार उठाने वाले इसी शहर में रहते हैं ....।

सोच समझकर बातें करना दीवारें भी सुनती हैं
तिल को ताड़ बनाने वाले, इसी शहर में रहते हैं ....।

अगर ढूँढ़िए मिल जायेंगे इसी भीड़ में यहीं कहीं
बिछड़े हुए मिलाने वाले, इसी शहर में रहते हैं ....।

पहला फर्ज़ बचाये रखिए राष्ट्र एकता, संस्कृति को,
वरना दाग़ लगाने वाले, इसी शहर में रहते हैं ....!

संविधान

हर एक भूखे पेट को बस ये ग़ुमान है।
रोटी का एक टुकड़ा ही हिन्दोस्तान है।।

नारे हैं जय जवान, जय किसान के मगर
भूखा यहाँ किसान है, नंगा जवान है।

सबसे बड़ी सवर्ण हैं टोपी और' लाठियाँ
सबसे बड़ा अछूत मेरा संविधान है।

बेटा है बड़े बाप का उसकी न पूछिए
दिल है हवा के साथ ज़ेहन आसमान है।

पत्थर के देवता का करें क्या यकीन हम
इस दौर में जब आदमी खंजर समान है।

अपना कोई है घर नहीं, बेघर हूं मैं मगर
वो जिसमें रह रहे हैं, वो मेरा मकान है।

सारा धनी पड़ोस उस निर्धन के साथ है
लगता है उस ग़रीब की बेटी जवान है।

● प्रभात शंकर

ग़ज़ल

मेरा दरवाज़ा खटकाया बहुत दिनों के बाद
भूला–बिसरा एक ग़म आया बहुत दिनों के बाद

क्या खोया क्या पाया हमें हुआ तभी मालूम
समय ने जब दर्पण दिखलाया बहुत दिनों के बाद

एक खिलौने की ख़ातिर मैं कितना रोया था
बच्चे ने फिर याद दिलाया बहुत दिनों के बाद

तेज़ हवायें, आँधी, तूफ़ां थककर बैठ गये
मैंने एक चराग़ जलाया बहुत दिनों के बाद

इन्द्रधनुष के सात रंग थे, मैं था, और तन्हाई
फागुन ने कुछ याद दिलाया बहुत दिनों के बाद

रात मेरी छलकी आंखों में वो चेहरा यूँ उभरा
गंगा जी में चांद नहाया बहुत दिनों के बाद

टूटे–फूटे लफ्ज़ों में कुछ कहते–कहते शेर
एक ग़ज़ल पूरी कह पाया बहुत दिनों के बाद।

□□□

ग़ज़ल

● प्रो. नन्दलाल पाठक

अभी मिटानी हैं दूरियाँ कुछ, अभी हैं कुछ आसमान बाक़ी।
वो जिसका सपना है मैंने देखा, अभी है मेरी उड़ान बाक़ी।

यही है मौक़ा, कोई तो इतिहास का सुनहरा वरक़ पलट दे,
अभी अँधेरे नहीं मिटे हैं, अभी है तारों में जान बाक़ी।

गुज़ार दी हमने रात माना, अभी सवेरा कहाँ हुआ है?
ये तो उषा की है तान पहली, अभी है सूरज का गान बाक़ी।

अभी से आने लगी थकावट, अभी से होने लगी शिकायत?
अभी तो बुनियाद भर पड़ी है, अभी है पूरा मकान बाक़ी।

उसी को जीवन दिया समय ने, जो वक़्त पर ज़िन्दगी लुटा दे,
अभी शहादत के रास्ते पर हैं और भी इम्तहान बाक़ी।

भले ही मंजिल मिले न मुझको, सफर मेरा कामयाब होगा।
जहाँ भी मेरे क़दम पड़ेंगे, रहेंगे उनके निशान बाक़ी।

● राजेन्द्र तिवारी

दो ग़ज़लें

खोले न जुबाँ लाख मगर बोल उठेगा।
आँखों से गुनहगार का डर बोल उठेगा।

दीवारें भी सुन लेती हैं अफ़साना दिलों का,
जज्बात पुकारेगें तो घर बोल उठेगा।

बेकार नहीं जाती बुजुर्गों की दुआएं,
मुश्किल में दुआओं का असर बोल उठेगा।

छुप जाये कोई ऐब ज़माने से भले ही,
आईने से मिलते ही नज़र बोल उठेगा।

शाख़ों पं. नशेमन हैं परिन्दों के, हवाओं!,
बिखरेगें नशेमन तो शजर बोल उठेगा।

दुनिया उसे जब भी नज़र अंदाज़ करेगी,
फ़नकार न बोलेगा, हुनर बोल उठेगा।

● ● ●

मंज़िल न कोई राह गुज़र, घूम रहे हैं।
बंजारे लिये काँधे प' घर, घूम रहे हैं।

अब घर से निकलिये तो बहुत सोच समझ कर,
सड़कों प' कई किस्म के डर घूम रहे हैं।

इक रेल में बैठे हुए बच्चे को पता क्या,
हम भाग रहे हैं या शजर घूम रहे हैं।

ये चाँद, ये धरती, ये गुज़रते हुए मौसम,
है किसकी मोहब्बत का असर, घूम रहे हैं।

इस प्यार के दरिया में किनारे न मिलेंगे,
बस डूबते ही जाओ भंवर घूम रहे हैं।

□□□

● अनिरूद्ध सिन्हा

ग़ज़लें

बहुत क़रीब से देखा हिसाब मत रखिये
अंधेरी रात में सूरज का ख़्वाब मत रखिये।

हुई तलाशियाँ अपने खिलाफ़ उल्फ़त की
सलीके इश्क़ की ऐसी क़िताब मत रखिये।

हमें यक़ीन है कल तक उदास था मौसम
भरी बहार का झूठा खिताब मत रखिये।

हसीन शाम का गंज़र नहीं मिले शायद
हमारी याद को यूं बेहिजाब मत रखिये।

हज़ार कोंपलें जिसने ममोड़ दी हँसकर
उसी के हाथ में तन्हा गुलाब मत रखिये

● ● ●

क़ैद हैं आज भी नज़रों में फ़साने कितने
ये अलग बात हैं गुज़रे हैं ज़माने कितने।

एक दिन पर्वतों तेरा ये भर्म टूटेगा
पत्थरों से नहीं डरते हैं दिवाने कितने।

क्या पता चांदनी आयेगी घरों में कल भी
रोज़ ही चांद पर लगते हैं निशाने कितने।

हम बिना ख़ौफ़ के चलने के कबल राहों में
साथ रख लेते हैं जीने के बहाने कितने।

आप उम्मीद का दावा भी ज़रा सा करिये
वक़्त की गोद में काबिज़ हैं खज़ाने कितने।

□□□

● माधव कौशिक

ग़ज़लें

खुशबू का बदनाम असर भी होता है
तितली को कांटों का डर भी होता है।

चलो उसी को आज ढूंढने चलते हैं
हर घर में इक गायब घर भी होता है।

जुबां काटने वालो तुमको याद रहे
शायर के कंधों पर सर भी होता है।

सच्चाई को देखें तो किन आंखों से
हर मंज़र का पसमंज़र भी होता है।

क्यों खुद को मजलूम समझ कर बैठे हो
सबके सर पर इक अम्बर भी होता है।

सिर्फ प्यार की लहरें गिनना सही नहीं
वहां नदी के बीच भंवर भी होता है।

● ● ●

नहीं नसीब में पानी तो फिर हवा रख दे
जिगर में धूप तो अहसास में घटा रख दे।

अगर ये जिस्म की दूरी मिटा नहीं सकता
दिलों के बीच भी सदियों का फासला रख दे।

उजाला आप ही आयेगा चूमने आंखें
सुबह की धूप में यादों का आईना रख दे।

कहीं ये शख़्स भी खो जाये ना अंधेरों में
मेरे लबों पे किसी और की दुआ रख दे।

यहाँ चिराग़ भी जलते हुये झिझकते हैं
हमारे हाथ पर सूरज बुझा हुआ रख दे।

रूला रहा है बहुत पहली बार का सपना
मेरी निगाह में अब ख़्वाब दूसरा रख दे।

सुना है वक़्त भी आता है दर्द को पढ़ने
उसी किताब का फिर खोल कर सफा रख दे।

□□□

सिंहासन का प्रतिवेदन

● केशव कालीधर

अब कहाँ हैं
वे तमाशबीन
जो हर चौराहे पर खड़े
मदारियों
और मर्दानगी के दवाफरोशों के
इर्दगिर्द

यूँ ही अपना ख़ाली वक्त गुज़ारने के लिए
तालियाँ बजाते थे
और अपनी पोशीदा शिकायतों की फ़ेहरिस्त
दिल बहलाव के लिए
इस तरह सुनाया करते थे
कि तुम्हें लोगों को भीड़ बनाकर
उनकी लीडरी का ख़्वाब आने लगा था?

अब देखो
जब मुर्दाघाटों से उठाई हुई
मजयाकश खोपड़ियों से
तुम्हें अलग करके
बंद कर दिया गया
तो तुम्हें उन तमाम नुस्ख़ों की
निरर्थकता दीखने लगी होगी
जिनसे तुम नामर्दों को
जिंदा बना रहने की तरकीबें
सिखाया करते थे!

आओ!
अब अगर अपनी ग़लती
महसूस कर रहे हो
तो मैं तुम्हें दिखाऊँ
कि वही तमाम तमाशबीन
अब मेरे साथ
इस सार्वजनिक सभा में
तुम्हारे ख़िलाफ़ नारे लगा रहे हैं
और तुम्हारे जैसे
'फ़रेबियों' (?) को
पकड़ बँधवाने की
माँग तेज़ कर रहे हैं!

मजमे बटोरने वाले
मेरे हमपेशा नादान दोस्त!
जनता के सागर
बिना अगस्त्य ऋषियों के नहीं लहराते
उत्साह और किलकारियों की हर लहर
मेरे ही फेंके हुए प्रतिधक्कों से
आरक्षित कराए हुए वेगों पर
जय बोलती
उठती
चली आती है
और लहराते हुए उस विशाल समुंदर को
जन्म देती है
जो मदारी और अगस्त्य की ताक़त को
साफ़ साफ़ बताता है!

मुझे अफ़सोस है मेरे दोस्त
कि तुम अपने सामने खड़े मजमें से
सिर्फ़ नामर्दगी की दवा
बेचने के लिए
उनकी पोशीदा–शिकायतें
सुनते रह गए!

तुममें इतनी ताक़त नहीं थी
कि तुम उन्हें पीकर
चाट जाते
और घिघियाने पर
अपने पेशाबघरों में छोड़ देते!

□□□

पहचान

● श्रीकान्त जोशी

सुनो!
यह जो तुम निरन्तर अपशब्द कहते
घूँसों, धमाकों, विस्फोटों और हत्याओं की धमकियाँ देते
छुट्टे सांड से मदमाते
निर्दोषों और अबोधों को कुचलते विचरते हो...
इसकी वज़ह है
वज़ह कि शरीफ आदमी परेशान रहा अब तलक
अपनी ही शराफ़त के गलत इस्तेमाल से,
गफ़लत में रहा–
अपनी ही ताकत की बाबत–
अपने ना–समझ ख़याल से
अनवरत धोखों, ठोकरों, तजुर्बों से–
अन्ततः वह समझ गया–
"शराफ़त" शरीफ़ों के लिए है
गुण्डों, दादागिरों के लिए नहीं,
शराफ़त एक ताकत है
महज़ कमजोर आदमी की ज़रूरत नहीं,
बहुत...बहुत हो चुका
शराफ़त की आड़ में डरपोकों का आत्म–छल
शरीफ़ आदमी के सामने गुण्डों में काहे का बल?

शराफ़त की आधुनिकता समझने लगी है
"निर्भीक मृत्यु भी...
बेहतरीन इस्तेमाल है ज़िन्दगी का,
भागते आतयायी को पकड़ सकना भी
एक सलोका है
इन्सानियत की बन्दगी का।
पूजालयों और विद्यागृहों में
मजदूरों, किसानों, नवयुवकों, नवयुवतियों के पैरों में
सुनसानों और बाजारों में
ठोकरें खड़ी हो गयी हैं चमरौधे पहनकर
ठोकर

फिर ठोकर
और फिर एक और ठोकर
भाषा में नहीं मिलेंगी गिड़गिड़ाहटें अब—

"छोड़ दे रे
मुझे मुआफ कर
मुझ पर करम कर
मुझ पर रहम कर"....

वक्त वह गुजर चुका है।
बेशक मिलेंगी ठोकरें
ठोकरों की यह परम्परा अब रहेगी मौजूद
नपुंसक व्यवस्था, संवेदना—शून्य सत्ता के—
निर्लज्ज, खोखले, दकियानूस दावों के बावजूद।
अब सब जानते हैं
कागजी सत्ता और आत्महीन व्यवस्था
दोनों भयभीत हैं राष्ट्र—भंजकों से, गुण्डों से
आदमी ही बचा सकता है आदमी को
इन आदमखोरों और उनके हथकण्डों से।
समय की ज़मीन पर
ठोकरों की बुवाई की
शुरूवात कर दी है समय के किसान ने
मृत्यु नहीं होती महज मृत्यु के लिए
वह भी लगी है जिन्दगी को पहचानने।

● ● ●

अनुचर राष्ट्र

● श्रीकान्त जोशी

तुम बहुत अमीर हो?
अमीर होने और बने रहने पर बधाई
तुम हँस रहे हो अपनी तिजोरी की—
तरफ देखकर
और पी रहे हो बधाइयों को
शराब की तरह
तुम्हें शर्म नहीं आती?

इस भव्य दुकान के काउंटर पर
तुम सड़ी–गली डबल रोटियाँ बेचते हो
इस सजे विज्ञापनाक्रान्त पटल पर
तुम तिथि–च्युत दवाईयाँ बेचते हो?

बाजार के इस सुन्दरतम क्रय केन्द्र से—
तुम धने में गोबर
और मिर्च में गेरू बेचते हो?
नुक्कड़ के इस—
भीड़ भरे प्लेटफार्म से—
जरूरतों से परेशान ग्राहकों को—
तुम दूध में डिसेन्ट्री
और तेल में लकवा बेचते हो?
शर्म नहीं आती तुम्हें?
नहीं आती होगी!
पर मुझे आती है
तुम मर चुके हो लोगों
तुमसे मुझे कोई उम्मीद नहीं
उम्मीद तो जिन्दगी से होती है।

मेरा देश
दूसरे देशों की क्यों कहूँ—
जिन्दगी की तलाश में है—
प्राचीन ऋषि—मुनियों की तरह—
जो सत्य की टोह ही में
जिन्दगी को बदल लेते थे
इस देश में मात्र टोह है शायद
बदलाव नहीं
मेरे पास खड़ा मुस्कराता सा यह आदमी
मैं नहीं कह सकता
कोई जुल्म नहीं
कोई घाव नहीं।
न मैं देख सकता हूँ आकाश की तरफ
न चारों तरफ की अपनी जमीन
मैं मात्र देख रहा हूँ चन्द बिकी हुई जिन्सें—
धर्म, ईमान, मातृत्व और स्वाधीनता।।
—जुलूस में चलते हुए
इन्हें राह दिखा ही रही है कोई मशीन?
उधर जिन्दगी कह रही है आ..मी..न!!

शाम अंडमान की

● राजनारायण बिसारिया

तिरछे हँसने के कुछ कायदे
निमिषों में बड़े बड़े वायदे
अभी अभी उगे हैं
अभी डूब जायेंगे,

रंगत ही बदल दी
उधर आसमान की
लुढ़का दी
लालिमा सारे जहान की
उतरी है
सागर के पश्चिमी छोर पर
शाम अंडमान की!

शाम अंडमान की
जादू की पुड़िया है,
फिरकी–सी नाचती
गुलाबी गुड़िया है
बच्ची शैतान की!
थोड़ी से देर को
आती है

जरूरत से ज्यादा शरमाती है,
नीले नीले जल को
लाल कर जाती है!
बच्ची शैतान की,
शाम अंडमान की!

● ● ●

हम अंडमान वासी

हम सूरज के साथ–साथ तपे हैं
नारियल के दरख़्त हमारे हौसलों से नपे हैं
हमारे नाम काग़ज़ों पर नहीं
धूप के रेशों पर
घटा के केशों पर
रेतीले तटों पर
वनों के पटों पर
गीली समुद्री हवाओं की अलकों पर
लहरों की पलकों पर
गुच्छों–भर सुपारी के छिलकों पर छपे हैं।

लेकिन हमारे नाम किसी न भी नहीं पढ़े
क्योंकि हम विज्ञापन और नई सभ्यता
दोनों से दूर रहे, पीछे ही रहे खड़े!
हम इतने पिछड़े हैं कि न हम धोखा दे पाते है।
न हाथ फैलाते हैं
न चोरी करते हैं
हम थोथे किताबी आदर्शों के
लबादों को ओढ़ने से डरते हैं
हम धार्मिक पाखंडों को नहीं मानते
हम इतने असभ्य हैं कि
भाषाई मसलों पर लड़ना नहीं जानते!

हम खुली हवाओं में
हँसते डोलते हैं
हम उत्तर के द्वार को दक्खिन में
पूरब की खिड़की को पश्चिम में खोलते हैं
हम तमिल, तेलुगू, बँगला और मलयालम भाषी हैं
लेकिन जैसी भी सही हिंदी ही बोलते हैं।
हमारी कथा न्यारी है
हमें अपने देश के
नक्काशी और पच्चीकारी वाले जगमगाते महल नहीं
हमें तो देश के द्वार की ड्योढ़ी ही प्यारी है।
हम तो यहाँ से ही अपने महादेश का
चरणमृत पीते हैं
देश की पुकार पर
कल–कोठरियों में हम ही घुटे थे
अब खुले आसमानों में जीते हैं!
हमने बहुत कुछ त्यागा है
बहुत कुछ सहा है
बहुत कुछ सहते हैं
हाँ, कुछ लोग हमें लोकल कहते हैं!

ये जो नाम तुमने हमें दिया है
एक उपकार तो किया है
तुमने हमें भाषायी, धार्मिक या प्रांतीय
वर्गों–उपवर्गों में बाँटा
बहुत नाम नहीं दिए
एक नाम दे पाकर
हमारी अटूटता का लोहा मान लिया है

हमने तो सागर के साथ–साथ जिया है
सागर के जैसा ही रूप कुछ हमारा है
एक ही अटूट जलधारा है।

तल में है मूँगे, कहीं शंख
कहीं गहरे जल–फूलों की माया है

लेकिन एक ही अंचल
सब पर ही लहराया है!!
अपने इन रतनारे, खारे कछारों पर
हमने अनेक में एक को उगाया है
राष्ट्र के कलश पर चमकने वाला सूरज
पहले हमें छू आया है!
ये तिरंगी धूप
पहले द्वीपों पर नाची है
तुमने जो लोकल नाम दिया है
भारतीयता का ही पर्यायवाची है!
वैसे भी
शब्दों की नैया के लोभी नहीं हैं हम
अर्थों के खुले–खुले सागर में बहते हैं
अंडमान द्वीपों में रहते हैं
बहुत कुछ त्यागा है
बहुत कुछ सहा है
बहुत कुछ सहते हैं!

देश के बाग़ के बीच के सरोवर के
कमल ढके कूल तो नहीं हैं हम
सीमा पर उग आई मेहँदी की क्यारी हैं
माँ के अंचल पर कढ़े फूल तो नहीं हैं हम
लहराते छोर की
आखिरी किनारी हैं।

आओ देशवासियों
यहाँ आकर तो देखो
क्रांति वीरों की चरण–छुई
मिट्टी को माथे से लगाकर तो देखो!

आओ लेकिन हमें मजहब की टोलियों में
अलग–अलग भाषाओं–बोलियों में
बाँटते हुए नहीं,

अपने स्वार्थों की छुरी से
हमारी भोली पवित्रता को
काटते–छाँटते हुए नहीं
लोकल गैर–लोकल के ज़हर को
घोलते नहीं आओ।
जवान मांसल देहों को
टटोलते नहीं आओ।

आओ और देखो
ये सारे शंख सीप मूँगे
ये रंगीन मछलियाँ
ये नारियल, सुपारी और काजू
ये सब तुम्हारे हैं
ये समुद्री तूफान
ये कड़कती बिजलियाँ
और जंगलों में टिके रह गए
हमारे ही बंधु जारवाओं के ज़हरीले तीर,
ये सब हमारे हैं।

हम इंसानों को वर्गों में नहीं कसते
क्योंकि हम
रूढ़ियों के शहरों में नहीं बसते
शहरों में लोहे को, पत्थर को
ठप्पे लगी ईटों को ऊँचा उठाते हैं,
हम यहाँ लहरों में
लहरों के जैसा ही जीवन बिताते हैं।
भारी अँधेरों को
जंग लगे लोहे के कड़ीदार घेरों को
टूटे मस्तूलों के बोझीले ढेरों को
तल में डुबाते हैं
बाँहों में हम सिर्फ
पत्तों को फूलों को
किरणों के सतरंगे झूलों को गहते हैं।

अंडमान द्वीपों में रहते हैं
बहुत कुछ त्यागा है
बहुत कुछ सहा है
बहुत कुछ सहते हैं!
हाँ, कुछ लोग हमें लोकल कहते हैं!

□□□

दोहे

ढाई आखर

● अशोक गुप्ता

प्रेम नहीं गुड़ की डली, प्रेम न हाट बिकाय
प्रेम डोर विधि सिरजना, मत तोड़ो चिटकाय।।१।।

प्रेम करे वाचाल मन, अधरन रख दे मौन
व्यथा कथा हलचल बहुत, पाती लिखे कौन।।२।।

प्रेम सुरा सब छक चले, राजा रंक फकीर
जिसमें रच बस रह गई, यह उसकी तकदीर।।३।।

प्रेम तत्व स्वयं आ बसे, स्वच्छ मिले जब यान
प्रेम वहां कैसे अंटे, चित्त जहां हो म्यान।।४।।

प्रेम दंश पहले नयन, लहर हृदय तक आय
उन्मादित साचित्त मन, नख शिख छलकत जाय।।५।।

प्रेम सुधा पाई नहीं, उसका जीवन व्यर्थ
ईश्वर ऐसे चित्त में, बसे तो करे अनर्थ।।६।।

सपने में चित वन दिखी, मन खिल उठे प्रसून
उनको फैक्स पठाइये, कीजै टेलीफून।।७।।

इक पल में अनुराग है, दूजे पल खटराग
प्रेम मिलन एहि विधि सहज, बड़ो आपनो भाग।।८।।

प्रणय माधुरी अर्थ में, युवा देह उपहार
प्रेम नहीं यह सर्वदा, पल दो पल का ज्वार।।९।।

□□□

कविताएं

समर्पण

● शामा

गहरी हरित नील
गंगा संगम की धारा
कहीं तीव्र कहीं इतनी स्थिर!
चट्टानों से टकराने का शोर
कहीं शान्त झील अडोल
वहीं समतल सी
एक पथरीली सी चट्टान पर
बिखरी पड़ी थीं
गुलाब की कुछ
ताजा पंखुरियां.....।
.....शायद की होगी
किसी ने अपने इष्ट की पूजा।
डाल कर माला
उसके गले में
रख दिया होगा सिर
उसके पावन चरणों में
और चन्दन का
तिलक लगा कर

मनौती मानी होगी
उसके समर्पण में
प्रार्थनामय हो कर जीने की

प्रदीप्त आस्था

केसर की पंखुड़ी सी
आस्था मेरी
चेतना से दीपित
सृष्टि के न्याय में
पूरी तरह सम्मोहित।
निष्कलुष, उजली, निर्मल
चांदनी की.....
धवल चादर ओढ़
केसर के खेतों की
गीली मिट्टी में उतर गई।
काली मिट्टी की उष्मता
देवदारों की सुगन्ध
सफेदों की महमाती छाया
सभी ने पाल पोस कर उसे
खूशबू से सरोबार किया।
फिर वक्त बदला
मौसम के नकाब उतरे
विराट सम्राटों में
जलावतनी ने चुपचाप
उस प्रदीप्त आस्था का
गला काट दिया...और
बेगानी सी मिट्टी में
बेवक्त दफना दिया।

समकालीनता और शाश्वतता

● रोहिताश्व

समकालीन कविता वैविध्यमय जीवन और भाव–समुच्चय की कविता है। जिसमें विभिन्न विचारधारा, दर्शन एवं भावबोध के कवि सक्रिय हैं। यह किसी एक विशेष विचारधारा की काव्य सर्जना नहीं है।

समकालीनता अपने युगबोध इतिहास बोध और समसामयिक चेतना से जुड़ें होने का भावबोध है। यह अपने गत्यात्मक दौर से सम्पृक्ति की अवधारणा है। समकालीन स्थितियों, परिवर्तनों और ऐतिहासिक संक्रमणों के प्रति रचनाकार और दृष्टा का अपना एक विशेष दृष्टिकोण होता है। वह अपनी सामाजिक–सांस्कृतिक, राजनैतिक–आर्थिक और विश्व चेतस परिस्थितियों के प्रति विशेष रूख अपना सकता है। जो अपने सम्पूर्ण स्वरूप में भाववादी–अध्यात्मवादी हो सकता है अज्ञेय नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, अशोक वाजपेयी आदि के कवि–कर्म की तरह; अथवा मुक्तिबोध शमशेर, दुष्यंत कुमार, केदारनाथ सिंह आदि की तरह भौतिकवादी–यथार्थवादी भी हो सकता है।

समकालीनता एक मूल्य दृष्टि है, विचार दृष्टि है, जिसमें या तो अपने देश–काल, इतिहास बोध से तटस्थता अपनाकर प्रेम अध्यात्म, प्रकृति की सुन्दरता के शाश्वत बोध की कल्पना की जाये। जो वस्तुतः समकालनीता के यथार्थबोध एवं अन्तर्विरोधो से अलग होकर अज्ञेय, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती व अन्य कलावादी चिन्तकों का भाववादी–अध्यात्मवादी भाव है। वास्तव में समकालीनता का सही तात्पर्य अपने समसामयिक इतिहासबोध, वैश्विक विजन और राजनैतिक संक्रमण में जन संघर्षो चेतना के जुडाव का है। हमारा संकेत मुख्यतः अज्ञेय और मुक्तिबोध की परम्परा के कवियों के कविकर्म और विश्व–चेतस के अंतर की ओर है।

रचनाकार या आलोचक अपनी जगह काल–परिवेश और इतिहास बोध के प्रति तटस्थ भाव भी अपना सकता है; या वह प्रेम, प्रकृति, विरह या 'अलगाव बोध की शाश्वतता' भी अपना सकता है अथवा अपनी ऐतिहासिक चेतना व युगबोध से समसामयिक जीवन संघर्ष में, संवेदनशील मानस के रूप में 'पक्षधरता के शाश्वत बोध' को भी ग्रहण कर सकता है।

समकालीन कविता की प्रमुख विशेषता मानवीय चेतना के रूपान्तरण की है। सहीं अर्थों में समकालीनता अपने ऐतिहासिक संक्रमण एवं युगबोध से रूब रू होना है। काल–देश, परिवर्तित जनचेतना, मूल्य बोध की सही पहचान और अन्तर्विरोधी चेतना के विभिन्न फलक भी इसमे उजागर हुए हैं। पर यह भी स्वीकृत तथ्य है कि समकालीन कविता अपनी 'समग्रता' के व्यापक परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य बोधी रूपान्तरण की पक्षधर कविता है। समकालीन कविता की शाश्वतता पर विचार–विमर्श के पूर्व यह ध्यातव्य है कि यह अभी भी गत्यात्मक 'प्रोसेस' प्रक्रिया की कविता है। जिसका प्रारम्भ सातवें दशक के मोहभंग, विसंगतिबोध से माना जाता है। जो अपने विस्तृत परिप्रेक्ष्य में अकविता वाम कविता की नकारात्मक अतियों का निषेध करती हुई जनवादी चेतना की कविता है।

कहना न होगा कि समकालीन कविता में विगत तीन पीढ़ियों के रचनाकार सक्रिय रहे हैं। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल की प्रगतिशील विचारधरा के साथ–साथ अज्ञेय धर्मवीर भारती, भवानी प्रसाद मिश्र वाली प्रयोगवादी नयी कविता की पीढी के लोग भी इसमें शामिल रहे हैं। कतिपय लोहियावादी विचारधारा के कवि विजयदेव नारायण साही ओमप्रकाश निर्मल, रघुवीर सहाय और सर्वेश्वर दयाल भी बीच की पीढी रूप में इसमें सक्रिय रहे हैं। सुधी विद्वानों को ज्ञात है कि अकविता दौर के राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी, श्यामपरमार, मोना आलोक धन्वा की वाम चेतना भी प्रतिरोधात्मक आयाम प्रदान करती है। आठवें दशक में उभरे हुए वाम एवं जनवादी चेतना के पक्षधर राजेश जोशी, अरूण कमल, रोहिताश्व, कुमार अम्बुज आदि कवियों ने इसे यथार्थपरक वैश्विक परिप्रेक्ष्य वाले सृजनात्मक आधार प्रदान किए हैं।

वास्तव में समकालीनता, सर्वकालिकता, शाश्वतता कविता के लिए उतनी आवश्यक शर्त नहीं है जितना कविता का कविता होना आवश्यक होता है। वह समसामयिक, समकालीन युगबोध से सम्पृक्त रहकर ही अपने युगीन यथार्थ को भाषागत संरचना में मानवीय भावों, उद्वेलनों, विचारों, आदर्शों और मनोलोकों को प्रक्षेपित करती है। रचनाकार द्वारा कविताओं में सामूहिक चेतना के रागात्मक सम्बन्धों की 'समग्र' दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती है। 'समग्र' दृष्टिक्रोण के अन्तर्गत अपने दौर के सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों में रचनाकार की पक्षधरता अपने सौन्दर्य बोधी मूल्यों व कलात्मक सम्प्रेषण की अवधारणा के साथ–साथ सक्रिय रहती है। रचनाकार की काव्यात्मक अभिव्यक्ति रचनाकार के जीवनदर्शन एवं दृष्टिकोण के साथ सौन्दर्य बोधी समान और राजनैतिक दृष्टि विशेष 'विजन' की परिचायक होती है, जो कभी–कभी रचनाकार की स्वघोषित स्थापनाओं से अलग होती है।

आधुनिक साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य एवं क्षेत्र में समकालीन कविता कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से अधिक यथार्थपरक, कलात्मक एवं वैविध्यमय रूप–पैटर्नों की कविता है। जिसमें यथार्थ का कलात्मक प्रतिबिम्बन, रागात्मक बोध और विश्वदृष्टि कोण की अवधारणा सक्रिय है। जो एक ओर देश की लोकचेतना, जनचेतना, लोक सौन्दर्यानुभूति से जुड़ी है तो दूसरी ओर अपनी क्लासिकल, परिष्कृत–सौन्दर्याबोधी, मानवीय अनुभूतियों की समग्रता से जुड़ी है।

लोकानुभूति, लोकचेतना तथा परिष्कृत सौंदर्यानुभूति, शिल्प सम्बन्धी राजगता, विविधता, जिजीविषा, सम्प्रेषणीयता की अवधारणा ही समकालीन कविता को स्थायित्व प्रदान करने वाले वे तत्व हैं, जो कालान्तर में उसे महत्वपूर्ण बनाये रख सकते हैं। मानवीय प्रेम, वात्सल्य, प्रकृति चित्रण की विलक्षणता, सूक्ष्म इन्द्रियबोध, जिजीविषा करूणा, मृत्युभय महान आदर्श लोक–चेतना का उन्नयन आदि अवधारणाएँ प्राचीन एवं मध्ययुगीन काव्य में भी रही है और आधुनिक–समकालीन काव्य में भी अन्तर्निहित हैं। स्थायित्व एवं शाश्वतता वाले इन भाव बोधों में वैयक्तिक एवं जन–अनुभवों की दृष्टात्मक प्रक्रियाएँ सक्रिय रहती है। महान् एवं विशिष्ट कलाकृतियों में लोक सौन्दर्यानुभूति तथा परिष्कृत सौन्दर्यानुभूति का मिलन होता है। वैसे भी कलात्मक विचारों की दो धाराएँ होती है–प्रथम, जो कला में सुरक्षित और अभिव्यक्त हुआ करती है और लेखकों द्वारा परिष्कृत होती रहती है, द्वितीय जो कोटि–कोटि लोगों के मस्तिष्क में सौन्दर्यात्म मतों के रूप में पीढ़ी सुरक्षित रहती है लोकचेतना का विलक्षण पर्याय बन जाती है।

साहित्य के शाश्वत तत्वों में परिष्कृत कलागत सौन्दर्यानुभूति और लोकचेतना के अनुभवों की द्वन्दात्मक प्रक्रिया सक्रिय रहती है। अतः इन साहित्य के स्थायी तत्वों में युगीन यथार्थ, युगबोध, वैश्विक संदृष्टि एवं मानवीय मूल्यों की परिवर्तनशील भूमिका भी कम महत्व नहीं रखती है कारण किसी भी राष्ट्र के इतिहास के मोड़ो पर जो प्रगतिशील कला तथा साहित्य पल्लवित–पुष्पित होता है, वह लोकमानस और लोक सौन्दर्यानुभूतियों से गुँथा होता है। इन दोनों का द्वन्द्वात्मक विकास हुआ करता है। वेदों के रूद्र, वाल्मीकि के राम अश्वघोष के बुद्ध, कालिदास के दुष्यन्त, जायसी की पद्मिनी, सूरदास के कृष्ण, सोकोक्लीज के प्रोमेथियस गोएटे के फास्टस, शेक्सपियर के सीजर, मिल्टन के आदम ऐसे नायक है जिनकी स्थापना प्रतिभावना कलाकारों ने तो की है, लेकिन वे सभी शक्तियों से जन–मन के सम्राट और कल्पना शेखर रहे है। इन महान कृतियों में जनता की सृजनात्मक चेष्टाओं को गूँथा *गया है, जिसकी वजह से ही ये कालजीवी और 'शाश्वत' हो गयी है। इन्होंने अमृतसंतान जनता के विचारों, संवेगों, आकांक्षाओं तथा चिन्तको को अभिव्यक्ति दी है।"*[1]

समकालीन कविता वैविध्यमय जीवन और भाव–समुच्चय की कविता है। जिसमें विभिन्न विचारधारा, दर्शन एवं भावबोध के कवि सक्रिय हैं। यह किसी एक विशेष विचारधारा की काव्यसृजना नहीं है। यहाँ 'किसिम–किसिम की कविता' लिखने वालों की जमात भी

शामिल रही है। समकालीन कवियों में प्रगतिशील कविता, प्रयोगवादी कविता, नयी कविता, अकविता, वाम कविता और जनवादी कविता के विभिन्न एवं स्वनामधन्य कवि शामिल रहे हैं। पर अपनी व्यापकता में यह उन प्रतिबद्ध कलाचेतना से संवलित दार्शनिक–ऐतिहासिक दृष्टि के रचनाकारों की कविता है, जिन्होंने अपने दौर के युगीन यथार्थ की विभीषिका, अन्तर्द्वन्द्वों, मानवीय चेतना के सन्दर्भों और विश्वसंदृष्टि के सौन्दर्यबोध को रूपायित किया है।

समकालीन कविता के प्रयोगवादी रचनाकारों ने शिल्प की तराश को महत्व दिया तो प्रगतिवादी कवियों ने कथ्य, विषयवस्तु, जनचेतना एवं वर्ग–संघर्षी रूझानों की अभिव्यक्ति रची है। नयी कविता के रचनाकारों ने ऐतिहासिक अन्तर्विरोधों और वैश्विक साम्राज्यवादी शक्तियों वे संषर्ष को दार्शनिक दृष्टि से निहारा तो अकवितावादियों ने शब्दों के जघन्य विस्फोट से व्यवस्था को धिक्कारा है, वामपंथी चेतना के कवियों ने सत्ता में आमूल परिवर्तन की अग्नि वर्षी अभिधारणाएँ प्रस्तुत की तो जनवादी रचनाकारों ने लोकचेतना में अपेक्षित बदलाव और युगीन यथार्थ को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने की पेशकश की है।

यह माना जाता है कि समकालीन कविता का पूर्व–पक्ष नयी कविता है और नयी कविता के समर्थ रचनाकारों ने मिथकीय सन्दर्भों की अभूतपूर्व काव्य साक्षियाँ रची है। पर उनमें और समकालीन कविता के रचनाकारों में मूलभूत अंतर भी है। जिसकी ओर संकेत करते हुए विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने भी कहा है–"समकालीन कविता में मनुष्य की प्रतिमा स्थिर, जड़, निष्क्रिय और दार्शनिक नहीं है। उसमें चित्रित आदमी की शक्ल है जिसे आप पहचान सकते हैं, जान भी सकते हैं जबकि नयी कविता के क्षणवादियों के जब–तब कौंधते क्षणांक्षों में निमग्न मानव प्रतिमा को आप पूरी तरह नहीं जान सकते। 'अंधायुग', 'आत्मजयी', 'असाध्यवीणा', 'संशय की एक रात' वगैरह में जो चित्रित व्यक्ति है, वह काल के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखता सिर्फ दार्शनिक दृष्टि से देखता है।"[2] जबकि समकालीन कविता 'अंधेरें में' (मुक्तिबोध) अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की अवधारणा रखती है। जो व्यवस्था के दोहरेपन को जुलूस और कर्ता के माध्यम से अनावृत भी करती है। 'अमन का राग' (शमशेर) में विश्व–संस्कृति और काव्यकुल की नागरिकता को काव्य–मनीषा ही उजागर करती है। 'पटकथा' (धूमिल), 'हरिजनगाथा', 'मंत्र' (नागार्जुन) कुछ हो रहा है (ओमप्रकाश निर्मल) 'मृत्यु प्रसंग' (राजकमल चौधरी) 'गरूड़ का संशय' (राजा दुबे) 'इतिहास का संवाद' (कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह) 'जंगलगाथा' (वेणुगोपाल) 'एक सामरिक चुप्पी' (कुमार विकल) बलदेव खटिक (लीलाधर ज़गूडी) गोली दागो पोस्टर (जनता का आदमी) (आलोक धन्वा) 'इतिहास बनाने वाले' (रोहिताश्व) आदि रचनाओं के माध्यम से युगीन अंतर्विरोधों और समसामयिक काल–चेतना को रेखांकित करती है।

समकालीन कविता में सामूहिक चेतना का समसामयिक राजनैतिक, सामाजिक–आर्थिक, ऐतिहासिक संदर्भों की स्थितियों का विश्लेषण, विवेचन, मनन, चिन्तन कलात्मक रूप में प्रक्षेपित होता है। नागार्जुन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, धूमिल,

जगदीश चतुर्वेदी, राजकमल चौधरी, विजेन्द्र कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, दुष्यन्त, नचिकेता, वेणुगोपाल, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, आलोक धन्वा, राजेश जोशी, अरूण कमल, रोहिताश्व बोधिसत्व आदि की रचनाएँ इसका साक्ष्य है। समकालीन कविता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में युगीन चेतना एवं यथार्थगत सन्दर्भों से जितनी सीधी और उग्र मुलाकात होती है, उतनी पहले की किसी कविता में नहीं होती। समकालीन कवि दार्शनिक–विश्वबोध की प्रत्याशा ही नहीं रचता है बल्कि वह काल चेतस भाव से मनुष्य के प्रति नयी सृजनात्मक अवधारणा भी रखता है।

समकालीनता और शाश्वतता बोध के संदर्भ में कतिपय आलोचक विभिन्न मत रखते हैं। यह तो माना जायेगा कि समकालीन कविता अपने युगीन यथार्थ से जुड़ी है, वह समाज सापेक्ष्य सृजना है; पर वह शाश्वतता के भावबोध से भी जुड़ी है अपनी परिवर्तनशील युगीन प्रवृति के अनुरूप प्रेम, प्रकृति सौन्दर्य, करूणा, उदारता, जिजीविषा, मानवीय संवेदना, नारी के प्रति सम्मान की भावना, विश्व संदृष्टि और काव्यकर्म की चेतन निष्ठता आज भी शाश्वतता सम्बन्धी महत्वपूर्ण तत्व है जितने की वाल्मीकि एवं कालिदास के काव्य में भी रहे हैं।

'साहित्य के स्थायी मूल्य की समस्या : कालिदास' नामक लेख में रामविलास शर्मा ने स्वीकारा है कि "प्रकृति और प्राणिमात्र के जीवन स्पन्दन साहित्य के स्थायी तत्व है। उमा का सौन्दर्य, वाल्मीकि का सात्विक क्रोध, इन्दुमति के लिए आज का शोक, भारत की धरती से कवि का प्रेम ये सभी साहित्य के स्थायी तत्व हैं। इन्हें कवियों ने तुरन्त नहीं पा लिया। इन्हें पाने के लिए उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का लम्बा मार्ग तय करना पड़ा। कालिदास ने उन मानव मूल्यों को सहेजा और अनेक दिशाओं में उन्हें अधिक विकसित किया। नारी के प्रति उनकी सम्मान भावना, मातृत्व का आदर, जीव–मात्र से सहानुभूति, इस देश की प्रकृति से अगाध स्नेह, अपनी समग्र चेतना से व्यापक विश्व जीवन का स्पन्दन सुनने की शक्ति, उनकी चरित्रगत नम्रता जो उनकी कला के पीछे छिपी हुयी है। ये सभी बातें आज भी अभिनन्दनीय हैं और अनुकरणीय भी। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ पर कालिदास का गहरा प्रभाव है और 'तुलसीदास' लिखते समय निराला महाकवि के अध्ययन में डूबे हुए थे। कालिदास के काव्य साहित्य के यह सब तत्व स्थायी ही नहीं है, आधुनिक भारतीय साहित्य में अन्तधारी की भाँति प्रवाहित भी है।"[3]

'समकालीनता' और 'शाश्वता' के प्रतिमान दरअसल सौन्दर्यबोधी आलोचना के पूरक तत्व हैं। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत समकालीनता, प्रासंगिकता, स्थायित्व, शाश्वतता और युगीन यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्ब के साथ शिल्प संबंधी विविधता के संदर्भ विवेचित होते हैं। "मार्क्सीय सौन्दर्य शास्त्र ने आलोचक के काल (टाईम) और देश (स्पेस) के ज्ञान की गहराई (डेप्थ) को पैना बनाया है। इसी महत्वपूर्ण अनुदान की वजह से एक ओर तो कला में जीवन और समाज का दिग्दर्शन कर सकते हैं, दूसरी ओर अतीत के सांस्कृतिक पैटर्न

और सामाजिक चेतना को चित्रित कर सकते हैं--और तीसरी ओर कलाकृतियों की ऐहिक तथा भौतिक परिस्थितियों में मूल बद्धता प्रमाणित कर सकते हैं।[4]"

कहना न होगा कि समकालीन कविता के प्रगतिशील एवं जनवादी रचनाकारों ने काल, स्पेस, युगीन यथार्थ, मानवीय प्रेम तथा कलात्मक चेतना के उन्नयन की धारणा को यथाशक्ति तराशा है। यह अभी भी प्रवहमान कविता है अतः इसकी शाश्वतता पर अथवा इसके स्थायित्व पर विचार करना, कला–शिल्प की श्रेष्ठता हेतु महत्वपूर्ण तथ्य माना जायेगा। लेकिन इसके साथ यह भी महसूस होता है कि कहीं हम इसकी शाश्वतता पर विचार करने में कोई जल्दबाजी तो नहीं अपना रहे हैं। अथवा किसी विचारधारा के पक्षधर रूप में निर्णय देने की उतावली तो प्रदर्शित नहीं कर रहे हैं।

समकालीन कविता के व्यापक कैनवास में युगीन यथार्थ अंकित तो हुआ है पर यह अपने युगबोध से सम्पृक्त रहकर किस प्रकार यह कविता कालांकित रहकर भी कालातीत हो पाती है? उदाहरणतः विश्वम्भरनाथ उपाध्याय नयी कविता में तो कालातीत (ट्रॉंसेडैंस) होने अथवा सारतत्वों को पकड़ने का चाव स्वीकारते हैं और समकालीन कविता को युग के रूबरू खड़ा कर देते हैं। जबकि दोनों काव्यधाराओं के अधिकांश कवि समान रूप से, समवेत रूप से सक्रिय रहे हैं। उनका अभिमत रहा है--"साम्प्रतिक कविता, कालांकित कविता है। समकालीन कविता के पूर्व की कविता पर भी अपने समय का प्रभाव है, छाप है भूतपूर्व कविता में 'सामान्य' या 'शाश्वत' तत्वों और रूझानों के प्रति जितना लगाव मिलता है उतना समकालीन कविता में नहीं मिलता है। यथा स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) तथा 'नयी कविता' में कालातीत दृष्टियों और मूल्यों की प्रवृति अधिक है। इस माया में कालातीत (ट्रान्टोडेन्स) होने अथवा सारतत्वों (एसेन्टा) को पकड़ने का चाव, साम्प्रतिक कविता में बहुत कम है। परन्तु शमशेर (अम्न का राग) मुक्तिबोध (अंधेरे में) राजकमल चौधरी (मुक्ति प्रसंग) सौमित्र मोहन (लुकमान अली) धूमिल (पटकथा) आलोक धन्वा (जनता का आदमी) में जिजीविषा, मानवीयता, उदारता के जो प्रसंग उभरते हैं वे समकालीन कविता के स्थायित्व वाले प्रसंग ही है।

एक ही ऐतिहासिक दौर में जीने वाले व्यक्तियों और काव्य–कला सृजक कलाकारों में मत वैभिन्य हो सकते हैं, दार्शनिक अवधारणाओं में मतान्तर हो सकता है, पर यह काव्य–उत्कर्ष का कारण हो सकता है। समकालीन–सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य रचने के उपकरण प्रस्तुत करती है, लेकिन इन वस्तुगत परिस्थितियों के साथ साहित्यकार का आत्मगत प्रयास भी आवश्यक होता है। यह बिल्कुल सम्भव है कि उपकरण श्रेष्ठ हो किन्तु उनका समुचित उपयोग करने वाले कवि का अभाव रहे! एक ही समाज और एक ही वर्ग के व्यक्तियों की मेधा, सहृदयता, जीवन–दर्शन की क्षमता में भेद होता है। यह भेद बहुत कुछ साहित्य का उत्कर्ष निश्चित करता है।"[5] समकालीन काव्य–सृजन में वैश्विक धरातल पर व्याप्त साम्राज्यवादी शक्तियों के दबाव, मानवीय चेतना के विकास, रागात्मक बोध की अभिव्यक्ति ही कारगर

विषय नहीं है बल्कि आम आदमी की समस्त जिजीविषा कविकर्म की सौद्धेश्यता और कलात्मक अभिव्यक्ति, शिल्प–सम्बन्धी तराश भी इसके स्थायित्व एवं शाश्वतता को कायम रखने वाले तत्व है।

साथ ही यह बात गौर तलब है कि जब यह संसार, काव्य संसार परिवर्तनशील और नश्वर तो है ही, तब इसके कला–मूल्यों, काव्य अभिव्यक्तियों की शाश्वतता क्या एक अमूर्त विचार भर नहीं होगा? भाववादी दृष्टि से तो अनश्वरता एवं शाश्वतता का राग अलग संदर्भ रख सकता है और यथार्थवादी दृष्टि से मानवीय चेतना के उन्नयन प्रेम, जिजीविषा, जैविक मूल्यों का भावबोध, त्रिकाल बाधित बोध भी हो सकता है।

'जिजीविषा' एक शाश्वत बोध है। विश्व के गर्भ को विकीर्ण करने वाली साम्राज्यवादी शक्तियाँ, हिरोशिमा, नागासाकी, वियतनाम की घटनाओं से अनावृत हो चुकी है। शीतयुद्ध के दौर की समाप्ति के बाद इस अभिनव दौर में भी एक युवा कवि उदयप्रकाश की यह अवधारणा कम प्रांसगिक नहीं है–

"मौसम ऐसा है। कि खेत में आदमी
बीज फेंकने से डरता है।"

यहाँ केदारनाथ अग्रवाल जैसे रचनाकार भी काव्यसृजन की आवश्यकता को मनुष्य की जिजीविषा से जोड़कर शिद्दत से महसूस करते हैं कि –

"आदमी को कविता की जरूरत है। और कविता
को। आदमी की जरूरत हैं.......।"

विश्व में व्याप्त साम्राज्यवादी शक्तियों एवं दबाव के खिलाफ सिर्फ सामान्य व्यक्ति का जिजीविषा सन्दर्भ ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि एक रचनाकार की वह मानवीय संदृष्टि जो विश्व चेतस दार्शनिक–राजनैतिक दृष्टि का पर्याय हो, वह अभिनव स्वरूप की सृजनात्मक जिजीविषा होगी। जिसके कारण महायुद्धों की विभिषिका के उपरान्त शमशेर महसूस करते हैं–विश्व–नागरिकता के प्रथम व्यक्ति के रूप में–

"मुझे अमरीका का लिबर्टी स्टैच्यू उतना ही प्यारा है। जितना मास्को का लाल तारा। और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल। मक्का–मदीना से कम पवित्र नहीं। मैं काशी में उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ। जो वोल्गा से आए। मेरी देहली में प्रहलाद की तपस्या। दोनों दुनियाओं की चौखट पर युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही है।"[6]

अकविता के कवि राजकमल चौधरी भी विश्व की साम्राज्यवादी शक्तियों के तिलिस्म को ऐतिहासिक संक्रमणशीलता के बोध से महसूस करते रहे हैं–"क्यों एक ही युद्ध। मेरी कमर की हड्डियों में और कभी वियतनाम में (होता है) मेरे देश और मेरे मनुष्य का भविष्य

निर्धारित करने के लिए अतीत निर्धारित करने के लिए। मैं इतिहास पुस्तक की तरह खुला पड़ा है।

अकविता दौर की व्यवस्था विरोधी रचनाएँ, व्यवस्था बनाम स्त्री अंगों का ही प्रतीकात्मक रूप से चित्रित करती रही है। 'विजय' (गंगाप्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार) के कवियों द्वारा रची गयी कविताएँ एवं धूमिल, सौमित्र मोहन (,) शलभ श्रीराम सिंह आदि की रचनाएँ प्रकारान्तर से मानवीय चेतना की अदम्य जिजीविषा संबंधी उत्कर अभिव्यक्ति रही है।

मानवीय चेतना के विकास एवं चेतना के उन्नयन के लिए शमशेर को कवियों का कवि ही नहीं, बल्कि समकालीन काव्य संसार का प्रथम नागरिक स्वीकारा जा सकता है। मानवीयता के पक्ष में उनके यहाँ काल, समय, स्पेस, दिशा, भाषा–प्रांत, देश–आक्षांस, इतिहास–भूगोल सभी सांस्कृतिक–साहित्यिक परिधियों में सिमट आते हैं। शमशेर की रचनाधर्मिता की प्रतीक 'अमन का राग' शाश्वत बोध की वह कविता है,–जहाँ रचनाकार वर्तमान के धरातल पर खड़े होकर काव्यसृजना की अतीत–परम्परा और भविष्य के निर्माण संयोजन को अपने त्रिकालाक्षांस में देख रहा है–

> "देखो न हकीकत हमारे समय की। कि जिसमें
> होकर एक हिन्दी कवि सरदार जाफरी को। इशारे से
> अपने करीब बुला रहा है। मैं शेक्सपीयर का ऊँचा
> माथा उज्जैन की धारियों में झलकता देख रहा हूँ
> और कालिदास को वैमर के कुञ्जों में विहार करते
> और आज तो मेरा टैगोर मेरा हाफिज, मेरा
> तुलसी–मेरा गालिब। एक–एक मेरे दिल के
> जगमग पावर हाउस का कुशल आपरेटर है।

कवि कुल की सारी सांस्कृतिक धरोहर को सहेजे हुए शमशेर ग्रीक–रोमन संस्कृत–प्राकृत, बंगला–हिन्दी, उर्दू व आम जनता की संवेदनाओं को अपने सीने में समेटे हुए इस देश की महान विरासत को सिरजते हैं। जहाँ कला–साहित्य, देश–भाषा, स्पेस–टाईम की सरहदें पात्रों–स्थितियों और संश्लिष्ट मनोभावों में उभरती है। सम्पूर्ण समकालीन काव्यसृजना में ऐसी विलक्षण साहित्यिक–शाश्वता की समता मिलनी असम्भव है। जहाँ रूस, चीन, हिन्द–एशिया ही नहीं लेटिन अमेरिका एवं तृतीय विश्व सम्बन्धी जन संस्कृति की पुकार दूरगामी काल तक इक्कीसवी सदीं की दहलीज पर पाठकों सहृदयों के मन में अनुगूँज बनकर उभरती है–

> "आज मैंने गोर्की को होरी के आंगन में देखा
> और ताज के साये में राजर्षि कुंग को पाया
> लिंकन के हाथ में हाथ दिए हुए। और तालस्ताय
> मेरे देहाती यूपियन होठों से बोल उठा। और अरागों

की आँखों में नया इतिहास। मेरे दिल की कहानी की
सुर्खी बन गया। मैं जोश की वह मस्ती हूँ। जो नेरूदा
की भवों में जाम की तरह टकराती है। वह मेरा ने सदा
जो दुनिया के शांति के पोस्ट आफिस का प्यारा
और सच्चा कासिद है।

शाश्वतता की भावना सर्वकालिकता और स्थायित्व से जुड़ी है जिसके कारण शमशेर शांति, करूणा, उदातता और विश्व संदृष्टि के हाशिए पर, अपने कवि कर्म में उन सारे सन्दर्भो से जुड़कर भाषा, प्रांत देश–संस्कृति, विचारधारा और दर्शन को सकारात्मक सरहदों को स्पर्श करते नजर आते हैं। आकस्मिक नहीं है कि मुक्तिबोध के पास भी 'अंधेरे में' कविता के सम्पूर्ण परिदृश्य में तिलक की नाक से खून बहता है। गांधी जी टूटी चप्पल और ऐनक का जिक्र है (कहीं अन्यत्र जिसे ब्रह्मराक्षस पहनकर चले गये हैं) और भविष्य रूपी मानवीय शिशु का जिक्र है। वह शिशु हो मानवीय चेतना के उन्नयन का प्रतीक है।

समकालीन कविता के नायक कैनवास पर मानवीय चेतना के उन्नयन और पक्षधरता की भावना ही वह 'शाश्वतता' है जिसे शमशेर, मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, आलोक धन्वा आदि ने ही नहीं सिरजा है बल्कि युवा कति बोधिसत्व भी विश्वजनीन–शाश्वतता के नव हस्ताक्षर हैं। लालबहादुर वर्मा के साक्ष्य से माना जा सकता है कि 'जब सततता, शाश्वतता, अनश्वरता–विरारता बोध का स्त्रोत अध्यात्म से होता है तो उसमें जन्मते हैं–आत्म केन्द्रण और निर्लिप्लता, परन्तु उनका एक ओत–स्रोत इतिहास बोध भी है। तब उनसे विकसित होते हैं समष्टि के प्रति सम्पृक्ति, समर्पण और पक्षधरता, कर्मशीलता।"[7] बोधिसत्व की रचना में इतिहास बोध में कालातीतता की भावना कहीं–कहीं झलकती है शमशेर की ही परम्परा में कवि ने। ...जिसका धरती को जन्म काल से ही इन्तजार था, उसे समथर किया। उसमें रूपा दिया अपने को। मैं आया करता था इसे देखने के लिए।... न जाने कितने अकालों–भूचाल की उथल–पुथल के बाद भी। सही सलामत है यह मेरे लिए। सिर्फ मेरे लिए (यह पृथ्वी)

देश–काल, प्रांत का संक्रमण भी, देशातीतता का भाव बोधिसत्व के पास है–कवि नाइजर में डोंगी खो रहा है। जिसे रावी में नहा रही लड़कियाँ सुन रही है। तिब्बत में पड़े उसके पैरों के निशान कोई थेंथर काला हांडी में खोज रहा है। लगा रहा हूँ। अपने खेत में गमक हुआ धान। पूरे ताल पर ओनइ आया है मेहन गिर रहा है महीन कना। महकती हुई फुहार। पड़ रही है अदीस अबाबा में" यहा हूँ–(बोधिसत्व : सिर्फ कवि नहीं।)

लोक चेतना, लोकसंघर्ष का सीधा रास्ता काव्य–कर्म से जुड़ा है जो काव्य सृजन की शाश्वत मांग भी है। जिसके अनुरूप आलोक धन्वा का यह बुनियादी सवाल उठाना वाजिब है कि–

"क्यों पूछा था एक सवाल। मेरे पुराने पड़ोसी ने
मैं एक भूमिहीन किसान हूँ। क्या मैं कविता को
छू सकता हूँ।" (जनता का आदमी–वाम अंकर)

समकालीन कविता की यथार्थपरक जमीन पर आम आदमी का खुरदरे पैर वाले व्यक्ति का, पसीना बहाने वाले श्रमजीवी का सीधा प्रवेश हुआ है; उसकी पक्षधरता क्या समकालीन काव्य सृजन की शाश्वतता का मानक नहीं बन सकेगी। जिसके साक्ष्य नागार्जुन, मुक्ति बोध, केदारनाथ सिंह आदि के पास उजागर है। आम जीवन के संघर्ष से कवि कर्म की दूरी है, आम कृषक, खेतिहर–मजदूर और काव्य कर्म के महारथियों का जो अंतर है। उसकी खबर नागार्जुन को पूरी तरह रहती है। इसलिए वे कहते हैं–

"उनको दु:ख है। मंजरियों को पाला मार
गया है। तुमको दु:ख है। काव्य संकलन दीमक
चाट गये हैं। वे लोहा पीट रहे हैं......
तुम माथा पीट रहे हो....।"

मानवीय पौरूष का सक्रिय और सौंदर्य बोधी बिम्ब अपनी श्रमिक मुद्रा में केदारनाथ अग्रवाल के पास बखूबी मौजूद है–जो सम्पूर्ण समकालीन कविता के प्रगतिशील परिदृश्य में अपनी पूर्ण कलात्मकता में दुर्लभ है। यथा:–

"मैंने उसको जब–जब देखा। लोहा देखा। लोहा
जैसा। तपते देखा। गलते देखा। ढलते देखा
मैंने उसको गोली जैसा चलते देखा....।"

जनसाधारण और आम सामाजिकता–समष्टि के प्रति रेहटोरिक शक्ति में आलोक धन्वा के यहाँ अभिव्यक्त हुआ है। जो यथार्थबोध की शाश्वतता का प्रमाण भी है–

"जिसे आप मामूली आदमी कहते हैं। वह किसी भी
देश के झण्डे से बड़ा है। इस बात को वह महसूस
करने लगा है। महसूस करने लगा है वह। अपनी पीठ
पर लिखे गये सैकड़ों उपन्यासों। अपने हाथों से
खोदी गयी नहरों और सड़कों को। कविता की
महान सम्भावना है यह। अपनी टांग पर टिके महानगरों
और। अपनी कमर पर टिकी हुई राजधानियों को
महसूस करने लगा है वह। धीरे–धीरे उसका चेहरा
नये गँडासे में बदल रहा है। हल के चमचमाते फाल
की तरह। पँजों को। बीज, पानी, जमीन के सहीं रिश्तों
को महसूस करने लगा है वह। (जनता का आदमी)[8]

समकालीन कविता में प्रेम, नारी–प्रेम और प्रकृति प्रेम एक विलक्षण, ताजगी भरी भावमुद्रा में उभरकर आया है। प्रेम एक शाश्वत भावबोध है, वह हर एक युग की कविता का जीवन्त तत्व है। पर अपनी मिथकीय, रागात्मक चेतना और जीवन की स्फूर्तिदायिनी शक्ति से वह वर्तमान काल की प्रवाहमान कविता का महत्वपूर्ण पक्ष है। वह गुदगुदानेवाला,

सहलानेवाला, उन्मादकारी वासनामय प्रेम नहीं है बल्कि एक भाव साधन पवित्रता है। शमशेर की 'न पलटना उधर', 'सौन्दर्य' कविता, नागार्जुन की सिन्दुर तिलकित भाल' कविता धूमिल और आलोक धन्वा की रागात्मक अनुभूति जीवन के व्यापक सन्दर्भों को उकेरती है। आलोक धन्वा के यहाँ 'बेटी और हड़ताल' में बाल बराबर अंतर नहीं रहता है तो धूमिल को जीवन की आपाधापी में परिवार और प्रेम के संबंध में याद आता है चौराहे की लालबती के सामने साईकिल के रूक जाने पर कि "ऐसी भी क्या हड़बड़ी की। जल्दी में पत्नी को चूमना। देखो फिर भूल गया।" (कल सुनना मुझे–धूमिल)[9] जबकि अज्ञेय की 'ओ निःसंग ममेतर कविता' में रागात्मक बोध अहं के विसर्जन का माद्दा बन जाता है।

नागार्जुन के पास अगर "कर गई चाक तिमिर का सीना। जोत की फाँक। यह तुम भी थी।' की भावना है तो केदारनाथ अग्रवाल के पास प्रकृति चित्रण की कलात्मकता में 'धूल गाँव की गोरी' का पर्याय बन जाती है। यथा–"...लिपट गयी जो जो धूल पाँव से। वह गोरी है इसी गाँव की। जिसे उठाया नहीं किसी ने इस कुठाँव से।' भाव उपलब्ध होता है। समकालीन कविता की कलात्मक अभिव्यक्ति में 'नयी नैतिकता का शाश्वत बोध' भी शामिल है जो उसकी शाश्वतता का कार्य–कारण बन सकता है। प्रकृति के इन्द्रिय बोध वाले संसार में यह केदार बाबू की नैतिकता ही है जो पक्षधरता की अभिनव मिसाल है–

> "आज नदी बिल्कुल उदास थी। सोयी थी अपने पानी में
> उसके दर्पण पर। बादल का वस्त्र पड़ा था। मैंने
> उसको नहीं जगाया। दबे पाँव वापस आया....।

विजेन्द्र के पास यही नयी नैतिकता बोधी अवधारणा अपनी पूरी पक्षधरता से सक्रिय है। भारत को दर्शाने वाली 'पर्यटक संस्कृति' जो धीरे–धीरे व्यावसायिकता और अपसंस्कृति का माध्यम बन रही है। उसी के चलते हुए 'भारत–पोस्टर' में जवान मछुआरन के जिस्म और सुडौल नितम्ब को दर्शाने की प्रवृति पर विजेन्द्र व्यंग्य करते हुए जनचेतना में उभार की ओर संकेत करते हैं–

> "वह एक जवान मछुवारिन का जिस्म है। उसकी
> धोती का काला किनारा।... और लम्बे बाल। उसके
> नितम्बों तक के ढलान की बन्दिश सुडौल है
> क्या तुमने भारत वहाँ देखा है। फसलों को तराशती
> बाँहे वहाँ देखी है। वहाँ एक मजूर की औरत उधर
> उँगली का ईशारा कर रही है। जहाँ गहरे हरे रंग के
> तीर गाड़ दिए हैं। जहाँ झोपड़ियों के अंधेरे मुँह
> चमकते हैं। क्या तुमने भारत पोस्टरों में देखा है।"[10]

यह नयी नैतिकता वाला बोध है जो अपने नये–मान मूल्यों में शाश्वतता का अभिनव बाना पहना सकता है। नारी देह–नारी प्रेम का निषेध नहीं है समकालीन कविता में; जो जीवन की एक अपरिहार्य प्रवृति होती है।

कहना न होगा कि शमशेर की विभिन्न कविताओं 'एक ठोस बदन अष्ट धातु का', 'सौन्दर्य; और 'चुका भी हूँ मैं नहीं, में जो नारी–देह, नारी–प्रणय के चित्र उभरकर आये हैं। वे रागात्मक बोध की शाश्वतता के, समकालीन कविता की शाश्वतता के भाव–चित्र अपनी प्रभावशीलता में माने जा सकते हैं। कतिमय भाव दृश्य दृष्टव्य होंगे–

"एक सोने की घाटी जैसे उड़ चली। जब तूने
अपने हाथ उठाकर। मुझे देखा। एक कमल सहस्रदली
होठों से। दिशाओं को छूने लगा। जब तूने आँख
भरकर मुझे देखा।''' तूने मुझे दूरियों से बढ़कर
एक अर्हिनिश गोद बनकर। लपेट लिया है। इतनी
विशाल व्यापक तू होगी। सच कहता हूँ। मुझे स्वप्न
में भी गुमान न था.....

सौन्दर्य, प्रेम और पक्षधरता के विलक्षण कवि शमशेर 'काल, तुझसे होड़ है मेरी' जैसी जिजीविषा को ही रेखांकित नहीं करते हैं बल्कि रागात्मक बोध के मिथकीय चित्र सिरजते हैं–

"चुका भी हूँ मैं नहीं। कहाँ किया मैंने प्रेम आभी
जब करूँगा प्रेम। पिघल उठेंगे। युगों के भूधर
उफन उठेंगे। सात सागर। किन्तु मैं हूँ मौन आज
कहाँ सजे मैंने साज अभी....।

शमशेर के पास मौत की अवधारणा और कल्पना भी 'होठो पर तलुए के बल खड़ी' ...एक नारी आकृति में नजर आती है। समकालीन कविता में प्रेम के विस्तार स्वरूप को हम मुक्तिबोध के यहाँ "गर्भवती स्त्री के ...चावल में कंकड बीनते हुए" रूप व भाव सम्पदा में और 'अंधेरे में कविता की फैंटेसी में कवि कर्म में 'भविष्य रूपी शिशु को सहेजने वाले प्रतिबद्ध भाव में पाते हैं तो केदारनाथ सिंह' टमाटर बेचने वाली बुढिया के वात्सल्य में गोर्की की 'माँ' के स्परूप की प्रत्याशा रचते हैं।

समकालीन कविता में किसी भी विषय भाव, इन्द्रियबोध की अवहेलना नहीं है। अपनी 'समग्रता' में यह पिछली परम्परा के उत्कृष्ट तत्वों को स्वीकारती है। कश्य और शिल्प के अभिनव सन्दर्भों को तलाशती और रचती है। लेकिन विज्ञान की वर्तमान भौतिकवादी व्यवस्था में युद्ध, हिंसा, बलात्कार, शोषण और साम्राज्यवादी शक्तियों के बर्बर 'काव्य कर्म' का क्या महत्व हो सकता है। यह भी विचारणीय तथ्य है।

औद्योगिक उत्पादन की जटिल प्रक्रिया और विश्व की साम्राज्यवादी और उपभोक्ता संस्कृति के बीच जब सब कुछ नश्वर विनाशवान है–युद्ध, हिंसा, ईर्ष्या, संघर्ष की विभिषिका से प्रत्येक देश आशंकित है। अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश पर हवाई जहाजों का अपहरण कर आतंकवादी विशालकाय–गगन–चुम्बी टावरों–भवनों को ध्वस्त कर सकते हैं तब एशियाई

देशों की अस्मिता क्या मायने रखती है। यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि क्या कोई मानवीय चिन्ताओं या मूल्यों की कोई शाश्वतता कायम है? कविता और कला क्या आज भी आदिम आवेगों, भय, निद्रा, मैथुन और आहार की तरह आवश्यक उपादान हो सकती है। जबकि वर्तमान दौर में अधिकांश लोग मतलब की इबारत से होकर/व्यवस्था के पक्ष में चले जाते हैं। लेखपाल की भाषा के लम्बे सुनसान में। जहाँ पालों और बंजर का फर्क मिट चुका है। चन्द खेत हथकड़ी पहने खड़े हैं। (धूमिल) जिस तथा–कथित प्रजातंत्र में घोड़े और घास को, बराबर की छूट वाली, शोषक और शोषित को समान अधिकार की अभिव्यक्ति कायम है। जहाँ राजकमल चौधरी का 'मुक्ति प्रसंग' संबंधी आपरेशन टेबुल पर हल्फिया बयान है–

"आदमी को तोड़ती नहीं है लोकतांत्रिक पद्धतियाँ
केवल पेट के बल। उसे झुका देती है... धीरे–धीरे
अपाहिज। धीरे–धीरे नपुंसक बना देने के लिए। उसे
शिष्ट, राजभक्त, देश प्रेमी नागरिक बना देती है
हम लोगों को शामिल नहीं रहना है। इस धरती से
आदमी को। हमेशा खत्मकर देने की साजिश में...।

प्रत्युतर केवल कवि–कर्म के निर्वाह में चेतना–प्रवाह को जारी रखने के समर्थन में होगा। बावजूद समकालीनता के 'शाश्वतता' के भाव बोध के निर्वाह वाली 'पटकथा', 'मुक्तिप्रसंग', 'इतिहास हन्ता', 'अंधेरे में', 'जनता का आदमी' आदि कविताओं को हम मनुष्य को चेतस बनाये रखने के लिए, पूर्ण मानवीय बनाये रखने के लिए आवश्यक समझते है। कवि केदारनाथ सिंह की निम्न अभिव्यक्ति से शायद ही कोई रचनाकार या सहृदय पाठक गैर इतफाक रखेगा यथा–

"मैं पूरी ताकत के साथ। शब्दों को फेकना चाहता
हूँ आदमी की तरफ। यह जानते हुए कि आदमी का
कुछ नहीं होगा। मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूँ
वह धमाका। जो शब्द और आदमी की टक्कर
से पैदा होता है। यह जानते हुए कि लिखने से
कुछ नहीं होगा। मैं लिखना चाहता हूँ।'[11]

'जिजीविषा' समकालीन कविता की शाश्वतता का सशक्त प्रतिमान है। जब 'गर्भवती स्त्री के गर्भ में/इसलिए गोली मार दी जाती है। कि एक ईमानदार आदमी और पैदा न हो जाए।' (आलोक धन्वा) जहाँ बस्तर, कालाहाण्डी, कोइहे–कनाल एवं अन्य भारतीय प्रदेशों में शिशुओं, बालक–बालिकाओं को बेच दिया जाता है। जहाँ हम सिद्धान्तों, दार्शनिक विचारों, काव्य मूल्यों, नैतिक चर्चाओं में महान बनने का अभिनय करते हैं और तल्ख हकीकत जानते हैं कि आम आदमी कितना निरूपाय है।

वास्तव में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी आत्मसंघर्ष में 'ब्रह्मराक्षस' और 'औरांग–उटांग' की जिन्दगी जीता है। पटकथा, हरिजनगाथा, इतिहास से संवाद की मार्मिक हकीकत काव्य सृजना में 'सवालात की हवालात में खड़े। बेकसूर आदमी का हलफनामा बन जाती है। तब भी केदारनाथ सिंह 'शब्द और आदमी की टक्कर में। लिखना चाहते हैं। "शब्दों को आदमी की तरफ फेंकना चाहते हैं।" कहना न होगा कि समकालीनता और शाश्वतता की सीमा रेखाओं के बीच नागार्जुन शब्द रूप, रस, गंध, स्पर्श का पाँच दरवाजा खोले। सहस्त्रों नेत्र भारत वर्ष बन जाते हैं। शमशेर 'काल से होड़' लेते हैं। रघुबीर सहाय 'आत्महत्या के विरूद्ध' में मन के टूटने की प्रक्रिया को जतलाते हैं। सर्वेश्वर के यहाँ 'खूंटियों पर टंगे लोग' उभरकर आते हैं और नक्सलवादी नागभूषण पटनायक का कद 'कुतुबमीनार की ऊँचाई' का पर्याय बन जाता है। अकविता की मोहभंग वाली स्थिति में राजकमल चौधरी जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, सौमित्र मोहन, दर्शन, चिन्तन और काव्य कर्म की सार्थकता पर व्यवस्था के विरोध में प्रश्न चिन्ह अंकित करते हैं। नये–पुराने कवि दुष्यन्त, नईम, शहरयार त्रिलोचन, राजेश जोशी बोधिसत्व आदि गजल, सानेट, मुक्तांक, गीत, कविता एवं लम्बी कविताओं की संरचना में शब्द–कर्म के उत्स और चेतना कर्म की पहल रचते हैं।

रागात्मक प्रेम, प्रकृति प्रेम, मानवीय चेतना के उन्नयन, जिजीविषा, नयी नैतिकता, इतिहास बोध की पारम्परिकता और सार्वजनीनता में समकालीन कविता की शाश्वतता के बीज तालाशे जा सकते हैं। जो काव्य के स्थायित्व वाले परिचायक तत्व है, जो पूर्ववर्ती एवं परवर्ती युगीन सन्दर्भों में भी प्रसंगानुकूल माने जा सकते हैं।

औद्योगिक विकास, विज्ञान और टेक्नोलाजी की इस अभिनव दुनियाँ में, संचार–माध्यमों की अन्जर्टिलता में अगर मानवीय जगत का, मानवीय प्रभाव और सौन्दर्य बोध का कोई महत्व है तो काव्य कला का महत्व भी उसी के समान असंदिग्ध है। कथ्य और अभिव्यक्ति, विषयवस्तु और शिल्प में काव्य मूल्यों की चिन्ता के समान शाश्वतता वाले तत्व एवं समकालीन भाव–बोधों की चिन्ता स्वाभाविक है पर यह हमारे युग की मांग है कि वे यथार्थबोध से, इतिहास बोध से, वैश्विक संदृष्टि, दार्शनिक अन्तर्दृष्टि से विलग न हो और यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्ब एवं शिल्प सम्बन्धी सजगता व तराश से असम्पृक्त न हो, जो मानवीय चेतना के उन्नयन और रागात्मक बोध से परिपूर्ण हो। मानव सत्ता की सापेक्षिक स्थिति में कविता एक आवेग त्वरित कालयात्री है, भावबोध में 'शाश्वतता की चिन्ता' और यथार्थपरक मूल्यबोधों की साक्षी है।

> मुक्तिबोध के साक्ष्य से कहा जा सकता है
> "नहीं होती, कहीं भी खत्म नहीं होती
> कि वह आवेग त्वरित काल–यात्री है
> मैं उसका नहीं कर्ता। पिता–धाता कि
> वह कभी दुहितां नहीं होती। परम स्वाधीन
> है। वह विश्व–व्यापी है....

यह पृथ्वी, यह विश्व एक गर्भवती स्त्री की तरह है, मानवीय मूल्यों, कला–मूल्यों और शाश्वत भावबोधों की तलाश में रचनाकार एक शिशु की तरह इसे थपथपाता है, सहलाता है और वर्तमान की कोख से अपने जीवन में शांति, करूणा, उदात्तता, जिजीविषा के कण तलाशना चाहता है, पर इसे खतरा युद्ध से हैं, हिंसा से है साम्राज्यवादी शक्तियों से है। यह हकीकत है हमारे जमाने की, काव्यकला गालिब के अन्दाजे बयाँ में दिल बहलाने का सबब भी काव्यकला हो सकती है और आग का दरिया पार करने का जुनून भी।

मूल्य चेतस दृष्टि से हम ख्याल, हम राही रचनाकारों की तलाश मुक्तिबोध को भी रही है और वर्तमान दौर के सहयात्री प्रतिबद्ध रचनाकारों को भी है। पर सवाल सामने वाले व्यक्ति से है कि 'पार्टनर तुम्हारी पालिटिक्स क्या है? किस ओर हो तुम! सर्वहारा निम्नवर्ग के पक्ष में या आध्यात्मवादी, उत्सवधर्मी कितनी नावों में कितनी बार वाले अज्ञेयीय यात्राओं के पक्ष में? कहीं निराला, नागार्जुन, शमशेर, धूमिल, मुक्तिबोध की परम्परा और सकारात्मक मान–मूल्यों की समकालीन प्रतिबद्धता व शाश्वतता खंडित न हो जायें।

सन्दर्भ

1. रमेश कुन्तल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है पृ. मम
2. विश्वम्करनाथ उपाध्याय : समकालीन कविता की भूमिका पृ. म
3. रामविलास शर्मा : आस्था और सौन्दर्य पृ. 82-83
4. रमेश कुंतल मेघ : साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक पृ. 80
5. रामलिवास शर्मा : आस्था और सौन्दर्य पृ. 80
6. नामवर सिंह (सं) : शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ पृ. 94
7. लालबहादुर वर्मा : कथा अक्टूबर 1992 पृ. 32
8. आलोक धन्वा : वाम अंक–2 जनता का आदमी कविता
9. धूमिल : कल सुनना मुझे पृ. 18
10. विजेन्द्र : ये आकृतियाँ तुम्हारी पृ. मम
11. केदारनाथ सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ पृ. 56

साहित्य-चर्चा

हिंदी लघुकथा का प्रारंभिक सफर

● बलराम

इतिहास अगर अतीत की शव साधना हो तो ऐसे इतिहास में जाने का हमारा कोई इरादा नहीं है, क्योंकि लघुकथा के इतिहास में जाना लघुकथाओं के शवों के बीच से गुजरना भर नहीं है। बेशक एक समय बहुत शक्तिशाली मानी जाने वाली अनेक रचनाएं कालांतर में रचनाओं के शब भर रह जाती हैं और बड़े रचनाकारों की ऐसी शव-रूप रचनाओं को भी साहित्य के आचार्य बहुत समय तक विक्रमादित्य की मुद्रा में ढोते रहते हैं, लेकिन कुछ रचानाएं दीर्घजीवी होती हैं, कालजयी। सदियों पुरानी ऐसी दीर्घजीवी रचनाओं के बीच से गुजरने वाला इतिहास अतीत की शव साधना नहीं, बल्कि समकालीनता में अतीत की प्रतिष्ठा-पुनर्प्रतिष्ठा का श्रम साध्य उपक्रम होता है और दुर्भाग्य से हिंदी लघुकथा में यह जरूरी काम अभी तक नहीं हो सका है और शायद इसीलिए इतनी रचना-बहुलता के बावजूद लघुकथा को उसका दर्जा अभी तक हासिल नहीं हो सका है। अभी हम विधा और उपविधा के द्वंद्व से ही नहीं निकल पाए हैं। आचार्यगण यहां भी बाल की खाल निकालते हुए तर्कों-कुतर्कों का ऐसा जाल-जंजाल खड़ा कर सकते हैं कि बहस फिर वहीं की वहीं पहुँच जाए कि पहले मुर्गी कि पहले अंडा? हम लेकिन इस बहस में पड़े बगैर सिर्फ यह निवेदन करना चाहते हैं कि बीसवीं शताब्दी की आँख खुलते हिंदी लघुकथा ने भी आँख/कान खोलकर मुलुर-मुलुर इस दुनिया-जहान को देखना, सुनना और समझना शुरू कर दिया था।

बीसवीं सदी के शुरू होने से 20-25 साल पहले लिखी गई भरतेंदु हरिशचंद्र की पुस्तिका 'परिहासिनी' की चुटकियों को चुटकुला कहकर उड़ा दें और सन् 1900 के आसपास लिखी गई माखनलाल चतुर्वेदी की लघुकथा 'बिल्ली और बुखार' के काल निर्णय पर मतैक्य न हो सके, ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ' को बोलकर लिखाई गई माखनलाल चतुर्वेदी की इस लघुकथा की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया जाए तो भी 1901 में

लिखी गयी माधवराव सप्रे की लघुकथा 'एक टोकरी भर मिट्‌टी' से हम हिंदी लघुकथा का आरंभ बेकिचक स्वीकार कर सकते हैं। यह और बात है कि अनेक आचार्य इसे हिंदी की पहली कहानी मानकर जो पोथे लिख चुके हैं, उन पर प्रश्नचिन्ह लग जाएंगे, लेकिन जब उन्होंने अपने पोथे लिखे थे, हिंदी लघुकथा की कोई खास हैसियत और अहमियत नहीं थी, लेकिन इक्कीसवीं सदी के शुरू होते न होते हिंदी लघुकथा ने अपनी जड़ और जमीन पर जो दावे ठोंके हैं, उन्हें कोई कोर्ट भी नकार नहीं सकता। कहानी और लघुकथा के अलंबरदार बेशक अपनी–अपनी तर्क–तलवारें भांजें, लेकिन मामला मिल–बैठकर बातचीत के जरिये ही हल होगा। दुश्मनों की तरह उसका फैसला नहीं हो सकता। और तो और, 'एक टोकरी भर मिट्‌टी' के अलावा 1915 में लिखी गई छबीलेलाल गोस्वामी की कहानी मानी जाने वाली रचना 'विमाता' भी लघुकथा ही है, गोकि आचार्यगण उसे भी हिंदी की प्रारंभिक कहानियों में गिन चुके हैं। गिन चुके हैं तो कोई बात नहीं, लेकिन अब तथ्यों को सुधार कर वे अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दे सकते हैं। इसमें उनकी दरअसल कोई खास गलती भी नहीं है, क्योंकि अपनी ऐसी कथाओं को प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद जैसे कथाकारों तक ने अलग से कोई नाम नहीं दिया था। वे दरअसल इन्हें कहानी ही कहते और समझते रहे। 1916 में लिखी गई पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की लघुकथा 'झलमला', माखनलाल चतुर्वेदी की 'अधिकारी पाकर' (1918) तथा कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लघुकथा 'सेठजी' (1929) आदि छोटी कथाए जब लिखी गई तो इन्हें कहानी ही समझा गया।

वो तो 1932 में कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की कुछ लघुकथाओं पर अज्ञेय का ध्यान गया तो उन्होंने उनसे कहा, "यह हिंदी की छोटी कहानी है और कहानी के इतिहास में इसे आपकी नयी देन माना जाएगा।" 1935 में प्रभाकर की इन छोटी कहानियों को देखकर प्रेमचंद बहुत प्रसन्न हुए और बोले, "शबाश, यह नयी कलम है, गद्य–काव्य और कहानी के बीच एक नई पौध, जिसमें गद्य काव्य का चित्र और कहानी का चरित्र है।" गद्य–काव्य और कहानी के बीच का वही पौधा अब लघुकथा के रूप में एक दरख्त बन चुका है, जिसको अपने विकास के लिए अब थोड़ी–सी जमीन चाहिए और एक मुट्‌टी आसमान भी। हिंदी के आचार्य पुनरावलोकन की कृपा करें तो कहानी और उपन्यास के अलावा उन्हें लघुकथा की एक अलग धारा बीसवीं सदी के आर–पार साफ–साफ दिखाई पड़ेगी। जरूरत है उसे उचित महत्त्व और संरक्षण देने की। उपन्यास ने कहानी का कुछ नहीं बिगड़ा। वैसे ही लघुकथा भी कहानी का कुछ बिगाड़ने नहीं जा रही। 1935 के आसपास अपने अलग अस्तित्त्व का आभास करा देने वाली तब की वह छोटी कहानी अब 'लघुकथा' के रूप में अपने लिए एक अलग प्रकोष्ठ मांग रही है।

हिंदी की लगभग सिद्ध हो चुकी पहली लघुकथा 'एक टोकरी भर मिट्टी' पर नजर डालें तो यह मिथ भी टूटता नजर आता है कि हिंदी का आधुनिक कथा साहित्य हमें अंग्रेजों की देन है। कहीं से भी नहीं लगता कि 'एक टोकरी भर मिट्टी' पर अंग्रेजी का किंचित भी प्रभाव है। माधवराव सप्रे की यह लघुकथा विशुद्ध रूप से भारतीय कथा परंपरा का विकास लगती है,

वैसे ही जैसे कि हिंदी की पहली कहानी; यह बात लेकिन उन लोगों की समझ में बिल्कुल नहीं आ सकती, जो प्राचीन हिंदी के विकास की सीढ़ियों से परिचित नहीं हैं। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश और उससे भी पहले संस्कृत और वैदिक संस्कृत तक हिंदी की जड़ें बहुत गहरे तक धंसी हैं। यह सच है कि दुनिया में भाषाओं और साहित्य के बीच आदान–प्रदान कभी रूकता नहीं है, इसलिए हिंदी कथा साहित्य ने अंग्रेजी से कोई प्रभाव ग्रहण नहीं किया, हम यह नहीं कहते, लेकिन मूल उसका अपना ही है और हवा–पानी के आवागमन को तो सरहदें भी नहीं रोक पातीं, लेकिन हर देश की अपनी एक आबोहवा होती है, भाषा और साहित्य की भी, जिसे हिंदी की पहली लघुकथा 'एक टोकरी भर मिट्टी' में भी देखा–महसूसा जा सकता है। मार्क्सवाद और वामपंथ का तब नामोनिशान तक न था, लेकिन 'एक टोकरी भर मिट्टी' के लेखक के दिमाग में कहीं गहरे तक सर्वहारा के संघर्षों और अधिकारों की बात घुसी हुई थी, तभी तो गरीब विधवा की मिट्टी से भरी टोकरी को जमींदार पूरी ताकत लगाकर भी उठा नहीं पाता और पस्त–परास्त होकर विधवा की उसकी झोपड़ी वापस कर देता है। चाहें तो इसे फैंटेसी भी मान सकते हैं या भारतीय साहित्य में जड़ जमाए बैठी ह्रदय परिवर्तन की उम्मीद। और हम जानते हैं कि यह दुनिया उम्मीद पर ही कायम है।

ऐसे भी प्राचीन भारतीय कथा साहित्य की परंपरा से उभरने वाली लघुकथा है छबीलेलाल गोस्वामी की 'विमाता'। इसमें भी कहीं अंग्रेजी कथा का प्रभाव नहीं दिखता, जबकि उस समय तक पूरे भारत में अंग्रेजी और अंग्रेजों का राज कायम हो चुका था। खड़ी बोली का ठाठ भी 1915 में लिखी गई इस लघुकथा में देखते ही बनता है। सौतेली माँ की परंपरागत छवि को न छेड़ते हुए भी कथाकार ने एक अलग ही अंदाज में एक प्रभावशाली लघुकथा का सृजन बीसवीं सदी के दूसरे दशक में ही कर दिया था। अर्थ उसके आप दोनों ही ले सकते हैं: बुढ़ापे की शादी बर्बादी के सिवा कुछ नहीं लाती या काबिल पुत्र स्वाध्याय और पुरुषार्थ से पिता की कीर्ति को बचाता ही नहीं, बढ़ता भी है। इन दोनों लघुकथाओं से लेकर अद्यावधि लिखी जा रही लघुकथाओं पर नजर डालें तो हिंदी लघुकथा के निखालिस भारतीय स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं।

परिवार प्रायः श्रेष्ठ कहानियों और लघुकथाओं के सृजन का स्रोत रहा है वह चाहे छबीलेलाल गोस्वामी की प्रारंभिक लघुकथा 'विमाता' रही हो, माखनलाल चतुर्वेदी की 'बिल्ली और बुख़ार' या फिर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' अथवा आनंदमोहन अवस्थी की 'बंधनों की रक्षा,' सब में परिवार का कोई न कोई पक्ष प्रबल रहा है। 'बिल्ली और बुखार' (माखनलाल चतुर्वेदी) में अबोध भाई–बहन के क्रियाकलाप हैं तो 'झलमला' (बख्शी) में देवर और भाभी के स्नेह की पारदर्शी अभिव्यक्ति।

ऐसे ही 'बंधनों की रक्षा' में एक मुंहबोली बहन का वृत्तांत है। समय चाहे कितना ही क्यों न बदल गया हो, चाहे पूरी सदी गुजर गई हो, मुंहबोली बहनों का हाल सब कहीं लगभग वैसा ही है, जैसा आनंदमोहन अवस्थी के समय में था। ऐसे बंधनों की रक्षा करना आज भी उतना

ही कठिन है। मुंहबोले संबंधों की सहज स्वीकृति आज भी कहाँ है और रामवृक्ष बेनीपुरी की 'घासवाली'! ताज्जुब होता है कि बेनीपुरी ने तभी 'घासवाली' जैसी सर्वांग–संपूर्ण लघुकथा रच डाली थी, जब लघुकथा की अब जैसी स्वीकृति लेखकों–पाठकों में नहीं थी। 'घासवाली' जैसी लघुकथा की रचना करना आज भी आसान नहीं है, जैसे कि रांगेय राघव की 'गदल' जैसी कहानी का सृजन आसान नहीं। हिंदी में न दूसरी 'गदल' लिखी जा सकी, न दूसरी 'घासवाली', श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' की तरह। तय है कि ये वे रचनाएँ हैं, जो कहती हैं कि 'काल तुझसे होड़ है मेरी' (शमशेर बहादुर सिंह से क्षमायाचना सहित) कभी–कभी ताज्जुब होता है यह देखकर कि हिंदी में लघुकथाओं की इतनी सशक्त परंपरा के होते हुए भी आठवें–नवें दशक के शोरधर्मी काल में खर–पतवार की तरह इतनी घटिया–घटिया लघुकथाएँ क्यों उग आयीं। शायद आंदोलनों में ऐसा ही होता है, बाकी तो हम सभी जानते हैं कि श्रेष्ठ रचनाओं का सृजन एकांतवास में ही हुआ करता है।

रामवृक्ष बेनीपुरी की 'घासवाली' हो या माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी, दोनों में ही निर्धनों का जीवन–व्यापार और संघर्ष मुखरित हुआ है, जिससे इस बाता का पता चलता है कि हिंदी लघुकथा प्रायः प्रारंभ से ही जनपक्षीय रही है। 'घासवाली' में घास बेचकर गुजारा करने वाली लड़की और तांगा चलाकर पेट पालने वाले युवक के उन्मुक्त प्रेम की पारदर्शी अभिव्यक्ति है। इस छोटी–सी कहानी में बड़ी, बल्कि बहुत बड़ी बात कह दी गयी है : 'गरीबों का प्रेम ऐसा ही होता है। तालाब में एक ढेला गिरा, कुछ तरंगें उठीं। फिर पानी शांत। समुद्र के ज्वारभाटे तो महलों को ले उड़ते हैं।'

ऐसा ही कुछ 'एक टोकरी भर मिट्टी' में है : 'श्रीमान् के सब प्रयत्न निष्फल हुए। तब वे अपनी जमींदारी चाल चलने लगे। बाल की खाल निकालने वाले वकीलों की थैली गरम कर उन्होंने अदालत से झोपड़ी पर अपना कब्जा कर लिया और विधवा को वहां से निकाल दिया।' जमींदार साहब ने यह सिर्फ इसलिए किया, क्योंकि उनकी इच्छा हो गई कि उनके महल का हाता झोपड़ी तक बढ़ जाए। इस तरह हम देखते हैं कि महल और झोपड़ी का द्वंद्व और संघर्ष हिंदी लघुकथा में प्रारंभ से ही मौजूद है, जो बलराम अग्रवाल की लघुकथा 'शंबूक का शाप' में शंबूक के खून के धब्बों के राम के कपड़ों से अनंत काल तक न छूटने के मिथभंजक मिथ के नए निर्माण तक चला आया है। ऐसे में जरूरत है हिंदी की जनपक्षीय लघुकथा परंपरा की खोज और उसके पोषण की। साथ में जरूरत है पतनशील प्रवृत्तियों को उभारने वाली मनुष्य विरोधी लघुकथाओं को खारिज करने की। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रावी तथा आनंदमोहन अवस्थी के लघुकथा संग्रहों ने 1950 के आसपास इस विधा की शक्ति और सामर्थ्य के दर्शन तो करा दिए थे, लेकिन वे कोई खास गुल नहीं खिला सके। खास गुल तो खैर अभी भी नहीं खिले हैं, पर बीसवीं सदी के आठवे–नवें दशक में लघुकथा खूब फली–फूली और इक्कीसवीं सदी के आरंभ में चाहे उतना शोर नहीं रह गया है, लेकिन चैतन्य त्रिवेदी के लघुकथा संग्रह 'उल्लास' के जरिये लघुकथा ने सही राह पकड़ ली है और

अब वह इस बात से अच्छी तरह वाकिफ है कि उसे कहाँ पहुँचना है और वहाँ पहुँचकर क्या–क्या करना है और क्या–क्या नहीं करना है, जिसे करने से उसे काफी हानि उठानी पड़ी है।

"अतीत और करुणा का जो अंश साहित्य में हो, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।" नवल की हंसी कुछ तरल हो गई। उन्होंने कहा, "इससे विशेष हम भारतीयों के पास धरा क्या है। स्तुत्य अतीत की घोषण और वर्तमान की करुणा, उसी का गान हमें आता है। बस, यह भी भंग–गांजे की तरह नशा है" विमल का हृदय स्तब्ध हो गया। चिर–प्रसन्न–बदन मित्र को अपनी भावना पर इतना कठोर आघात करते हुए कभी भी उसने नहीं देखा था।" यह है जयशंकर प्रसाद की लघुकथा 'पत्थर की पुकार' का एक अंश, जिसमें दो मित्रों के संवाद के माध्यम से प्रसाद ने अतीत केंद्रित साहित्य पर कठोर टिप्पणी की है। उनकी अन्य लघुकथाओं को भी देखें तो वहाँ भी अतीत की बजाय वर्तमान पर ज्यादा ध्यान केंद्रित किया गया है। यह और बात है कि प्रसाद की लघुकथाएं प्रेमचन्द की लघुकथाओं की तुलना में आधुनिक लघुकथा की परंपरा में कुछ पुरानी और अलग–सी लगती हैं, लेकिन प्रसाद एक बड़े साहित्यकार हैं, इसलिए उनको छोड़ पाना संभव नहीं होगा। कहानी हो, कविता हो या नाटक, प्रसाद का महत्त्व बना रहेगा और लघुकथा में भी वे अपना स्थान बनाए रखेंगे। आधुनिक लघुकथा से मेल न खाते हुए भी उनकी लघुकथाओं में है ऐसा कुछ कि वे काफी समय तक जिंदा रह सकती हैं।

उनकी लघुकथा 'कलावती की शिक्षा' में स्त्री और पुरुष संबंधों को व्याख्यायित करता निम्न अंश देखिए : "कलावती फिर लौटी और एक चीनी मिट्टी की पुतली लेकर उसे पढ़ाने बैठी : 'देखो, मैं तुम्हें दो–चार बातें सिखाती हूँ, जो उन्होंने अच्छी तरह रट लेना। लज्जा कभी न करना, यह पुरुषों की चालाकी है, जो उन्होंने इसे स्त्रियों के हिस्से कर दिया है। ये दूसरे शब्दों में एक प्रकार का भ्रम है, इसलिए तुम भी ऐसा रूप धारण करना कि पुरुष, जो बाहर से अनुकंपा करते हुए तुमसे भीतर–भीतर घृणा करते हैं, वह भी तुमसे भयभीत रहें तुम्हारे पास आने का साहस न करें। और कृतज्ञ होना दासत्व है। चतुरों ने अपना कार्य साधन करने का अस्त्र इसे बनाया है। इसीलिए इसकी प्रशंसा की है कि लोग इसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं, किंतु है यह दासत्व। यह शरीर का नहीं, किंतु अंतरात्मा का दासत्व है।" ऐसी अनेक विचारपूर्ण उक्तियाँ प्रसाद की लघुकथाओं में मौजूद हैं। यही बात रावी के बारे में भी कही जा सकती है।

आधुनिक हिंदी कहानी के इतिहास में प्रेमचंद का जितना महत्त्व है, आधुनिक लघुकथा में भी उनके काम का उतना ही महत्त्व है। उनकी तीन सौ कहानियों में से कोई तीस कथाएं ऐसी है, जिन्हें हम बड़ी आसानी से लघुकथा या लघुकहानी कह सकते हैं। यह जानकर ताज्जुब होता है कि बीसवीं शताब्दी के इन अंतिम वर्षों में आधुनिक हिंदी लघुकथा के जिस आदर्श रूप की परिकल्पना हम करते या कर सकते हैं, प्रेमचंद की इन तीस लघुकथाओं में

से आदर्श लघुव्यंग्य के नमूनों की भी तलाश कर सकते हैं। यह और बात है कि प्रेमचंद के समय में न लघुकथा, न लघुकहानी और न ही लघुव्यंग्य को अलग से स्थापित करने की बात उठी थी। यह बात तो बहुत बाद में कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की लघुकथाओं को लेकर उठी। अज्ञेय ने उन्हें 'छोटी कहानी' के रूप में हिंदी को नई देन कहा था।

उससे पहले झांकें तो माखनलाल चतुर्वेदी ने भी अपनी लघुकथाओं को छोटी कहानी कहा है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने खुद भी अपनी लघुकथाओं को प्रारंभ में छोटी कहानी ही माना था। जयशंकर प्रसाद अपनी छोटी कथाओं को क्या कहते थे, इसका तो कुछ पता नहीं चलता, लेकिन श्रीचंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने अपनी ऐसी कथाओं को अलग से कहीं प्रकाशित नहीं कराया, उन्होंने उन्हें अपने निबंधों में दृष्टांत के रूप में पिरोया है, पर अलग से छापने पर उनमें से कई रचनाएं, खासकर 'पाठशाला' आदि आदर्श लघुकथा का नमूना लगती हैं, जैसे उनकी कहानी 'उसने कहा था' हिंदी की प्रारंभिक कहानी होकर भी आज तक अपना महत्त्व इस रूप में बनाए हुए है कि उसे हटाने या विस्मृत करने की जुर्रत कोइ नहीं कर पाता। बहरहाल, इन सबकी छोटी–रचनाएं आधुनिक हिंदी लघुकथा की नींव के ऐसे पत्थर हैं, जिन पर उसका महल खड़ा हुआ है।

लघुकथा पर बहस भले ही बीसवीं सदी के आठवें दशक में छिड़ी हो, लेकिन इसका लेखन बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही हो रहा है। गुलेरी हों, प्रेमचंद, प्रसाद, रावी या विष्णु प्रभाकर, आनंदमोहन अवस्थी हों या कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', प्रायः सभी ने लघुकथाएं लिखी हैं और खूब लिखी हैं। हाँ, उनहें अलग से रेखांकित और प्रतिष्ठित करने का काम नहीं हुआ था, जिसके लिए हम लोगों को पापड़ बेलने पड़ रहे हैं और हिंदी लघुकथा की समुचित व्यवस्था है कि अभी भी होने को नहीं आ रही है।

प्रेमचंद की प्रतिनिधि लघुकथाओं में एक लघुकथा 'देवी' में है प्रेमचंद का वही पुराना आदर्शवाद। एक भिखारी पर बलिहारी होती एक विधवा की दया और करूणा, ठीक प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानी 'पंच परमेश्वर' जैसा आदर्शवाद, लेकिन उनकी दूसरी लघुकथा 'बंद दरवाजा' बाल मनोविज्ञान पर केंद्रित अपेक्षाकृत ज्यादा यथार्थवादी लघुकथा है। तीसरी लघुकथा 'राष्ट्र का सेवक' राजनीतिज्ञों की कथनी और करनी के अंतर को रेखांकित करती एक मारक रचना है तो 'कश्मीरी सेब' पाठक को उसकी दिन–प्रतिदिन की दुनिया की सैर करा कर बेईमानों से बचे रहने की राह दिखाती है। ऐसे लघुकथाएं ही वास्तव में आदर्श लघुकथा की श्रेणी में आती हैं, जो छोटी होती है, और होती हैं कथारस से ओतप्रोत और रोचक, मार्गदर्शक का काम करती हुई। पाठक ऐसी रचनाओं को पढ़कर भूल नहीं पाते। पांचवीं रचना 'बाबाजी का भोग' पुराने संस्कारों में जकड़े एक गरीब व्यक्ति के धार्मिक शोषण की कथा है।

इस तरह से इन पांच लघुकथाओं में प्रेमचंद की कथा रचना के पांच अलग–अलग रूप हमें मिलते हैं, जो जीवन के पांच अलग–अलग रंगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जीवन

के बहुरंगी चित्र और चरित्र देती प्रेमचंद की ये लघुकथाएं हिंदी लघुकथा के ऐसे पांच नमूने हैं, जिनसे नए लोग बहुत कुछ सीख सकते हैं। खासकर वे, जो समझते हैं कि हिंदी लघुकथा के आदि पुरुष वही हैं। प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ लघुकथा का चुनाव करना हो तो निश्यच ही वह 'कश्मीरी सेब' होगी, जो पाठक को सिखाती है कि बनिया और व्यापारी पर कभी भरोसा न करो, जो खरीदो, जरा जांच–परख कर। 'राष्ट्र का सेवक' भी प्रेमचंद की उत्कृष्ट रचना है, जो नेताओं की दोमुंही बातों की असलियत को खोलती है। हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और।

ऐसी ही है श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी की उत्कृष्ट लघुकथा 'पाठशाला', जिसमें बालक के बचपन को कुंठित कर देने वाले अभिभावकों पर करारी चोट की गई है, लेकिन लड्डू की सहज पुकार बच्चे ने सुनी और द्रष्टा को निश्चिंत कर दिया कि बालक बच गया। वह बच्चा बचा रहेगा, क्योंकि उसके भीतर लड्डू की ललक अभी शेष है। बच्चे के लिए लड्डू के आगे असर्फी का क्या मोल? 'भूगोल' गुलेरी की दूसरी उत्कृष्ट लघुकथा है, जिसमें शिक्षकों पर व्यंग्य किया गया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की लघुकथा 'झलमला' हिंदी लघुकथाओं की भीड़ में एक ऐसी कृति है कि अपनी दीप्ति और सहज सौंदर्य से सबका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, जिसमें देवर के प्रति भाभी के अविस्मरणीय स्नेह की अपूर्व अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी अच्छी लघुकथाएं हिंदी में बहुत ज्यादा नहीं हैं। प्रेमचंद, प्रसाद और गुलेरी की लघुकथाओं के समकक्ष इसे रख देने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं है। 'झलमला' की झिलमिल ऐसी है कि यह किसी भी पाठक की आँख से ओझल नहीं हो सकती।

इसी तरह माखनलाल चतुर्वेदी की लघुकथा 'बिल्ली और बुखार' है, जो उनकी ही नहीं, हिंदी लघुकथा की बेजोड़ प्रारंभिक रचनाओं में ऐ एक है। इस लघुकथा में ऐसा कुछ कि एक बार पढ़ने के बाद पाठक को हमेशा के लिए याद रह जाती है। उन्होंने अनेक लघुकथाएं लिखी हैं, पर पाठकों के सामने उनकी ज्यादा लघुकथाएं अभी पहुँची नहीं हैं। जयशंकर प्रसाद की अनेक लघुकथाएं पाठकों के सामने पहुँची हैं, लेकिन उनका गंभीर विवेचन–विश्लेषण होना अभी शेष है। उनमें काफी कुछ पुरानापन है, लेकिन 'कलावती की शिक्षा' निसंदेह उनकी एक ऐसी लघुकथा है, जो आज भी पाठक को प्रभावित कर सकती है।

इसी तरह जयशंकर अन्य लघुकथाएं 'पत्थर की पुकार' तथा 'चक्रवर्ती का स्तंभ' आदि भी ऐसी नहीं हैं कि उनके महत्त्व से हम इन्कार कर दें, लेकिन जैसा कि हमने पहले ही कहा कि आधुनिक भाव संवेदना से वे कुछ दूर जा पड़ी लगती हैं। ऐसे ही सुदर्शन की लघुकथाओं के ऐतिहासिक महत्त्व से इन्कार करना कठिन है, लेकिन जब आधुनिक भाव संवेदना वाली लघुकथाओं के समक्ष उन्हें रखते हैं तो वे पिछड़ी हुई लगती हैं। एक समय था, जब पशु–पक्षियों, देवी–देवताओं आदि के मुँह में डालकर लेखक अपनी बात कहलवाते थे और पाठक पर वे असर भी डालती रही होंगी, लेकिन अब वे अपना असर खो रही हैं। उन्हें पढ़कर लगता है कि बात तो लेखक ठीक ही कह रहा है, समय की बात भी वह कह रहा है,

मगर बात है कि कुछ बन नहीं पा रही है। बात से जो असर पड़ना चाहिए, वह पड़ नहीं पा रहा है, जैसे कि उनकी एक लघुकथा 'नेता' में नेताओं के जो रूप बताए गए हैं, आज के नेताओं में वे गुण हैं, पर कथा कुछ बनी नहीं। ऐसी ही 'हत्याएं' है, जो अच्छी लघुकथा बनते–बनते रह गयी। समय देवता ऐसी लघुकथाओं की रक्षा कब तक करेंगे, हम नहीं जानते, मगर जो हमें लग रहा है, वह कड़वी बात कहने के लिए पाठकों से क्षमा प्रार्थी हैं कि सुदर्शन की लघुकथाएं बहुत समय तक हमारा साथ दे नहीं पाएंगी।

पाण्डेयबेचन शर्मा 'उग्र' की लघुकथाएं भी गढ़ी हुई हैं, पर उनमें विचार का और व्यंग्य का इतना पैनापन है कि वह पाठकों के मन का बहुत–सा कूड़ा–कचरा साफ कर देती हैं। व्यंग्य को परसाई ने जो धार और पैनापन दिया, वह उग्र की परंपरा का ही अगला चरण है। लघुकथा को अगर व्यंग्य की दरकार है तो वह उग्र और परसाई जैसा व्यंग्य होना चाहिए, अन्यथा लघुव्यंग्य के नाम से बालेंदुशेखर तिवारी तथा अन्य रचनाकार अगर कोई 'अलग प्रकोष्ठ' बनाना ही चाहते हैं तो हमें कोई आपत्ति नहीं है, मगर तेजस्वी व्यंग्य के बिना अच्छी लघुकथा का सृजन नहीं हो सकता। उग्र की 'भक्ति' तथा 'भगवान' जैसी लघुकथाओं में इस तेज की झलक देखी जा सकती है और उनकी लघुकथा 'शैतान' में भी यह मौजूद है। यशपाल की लघुकथा 'संतोष का क्षण' भी व्यंग्याधारित है और आज की बहुत–सी स्त्रियों को पसंद आ सकती है, किंतु उस पर बहुत विवाद की गुंजायश है और मुझे नहीं लगता कि इस रीति से बहुत अच्छी लघुकथाएं लिखी जा सकती हैं।

यह और बात है कि पृथ्वीराज अरोड़ा और बलराम अग्रवाल जैसे कुछ समर्थ कथाकार इसी रीति से 'दुख' और 'शंबूक का शाप' जैसी सफल और आधुनिक भाव संवेदना की लघुकथाएं लिखकर इस रीति की सफलता की प्रतीति दे चुके हैं।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' हिंदी लघुकथा को विधा की मंजिल की ओर उन्मुख करने वालों में अग्रणी थे और उन्हें बाकायदा लघुकथा लेखक की प्रतिष्ठा मिली हुई है, लेकिन दुर्भाग्य कि उनके खाते में बड़े साहित्यकार की प्रतिष्ठा नहीं है। स्वाधीनता सेनानी और पत्रकार–लेखक के रूप में उनकी ख्याति जरूर है, पर साहित्य की किसी भी विधा में उनकी हैसियत बहुत अच्छी नहीं है। हिंदी में छपे जिन प्रारंभिक लघुकथा संग्रहों की चर्चा होती है, उनमें इनका संग्रह 'आकाश के तारे धरती के फूल' भी है, आनंदमोहन अवस्थी के 'बंधनों की रक्षा' तथा रावी के 'मेरे कथागुरु का कहना है' के साथ, मगर इन तीनों कथाकारों की साहित्यिक व्याप्ति, प्रतिष्ठा और प्रयास ऐसे नहीं रहे है कि ये लघुकथा को विधा की प्रतिष्ठा दे पाते। प्रभाकर को अपेक्षाकृत लंबी उम्र मिली, लेकिन अवस्थी का अवसान असमय हो गया, सिर्फ एक लघुकथा संग्रह 'बंधनों की रक्षा' देने के बाद। उनका वह संग्रह भी अब लगभग अदृश्य है, इतना कि एक लघुकथा के अलावा उनकी दूसरी लघुकथा ढूंढ़े नहीं मिलती। वह संग्रह मेरे पास था। मुझसे रमेश बतरा ने लिया। रमेश से कोई ले गया और खो दिया।

रावी को भी दीर्घजीवन मिला, लेकिन वे साहित्य की बजाय चिंतन की दिशा में मुड़ गए और चिंतनपरक कुछ लघुकथा संग्रह देकर शेष हो गए और उनसे भी लघुकथा को कोई ऐसा आकाश देते नहीं बना कि उसके एक स्वीकृत विधा बनने का मार्ग प्रशस्त होता। हाँ, रावी की लघुकथाएँ हिन्दी में अद्वितीय जरूर हैं। संवेदना की बात चाहे उतनी न हो, लेकिन ज्ञान के मामले में वे ऐसी ऊँचाइयों का स्पर्श करती हैं, जो कम से कम हिंदी में तो अभी तक अनछुई हैं। उनका यह अनूठापन लेकिन उनके विरुद्ध भी जाता लग रहा है। रावी जैसी इक्का–दुक्का लधुकथाएँ भले ही लोगों ने लिखी हों, पर रावी की लघुकथाएँ हिंदी में अद्वितीय जरूर हैं। संवेदना की बात चाहे उतनी न हो, लेकिन ज्ञान के मामले में वे ऐसी ऊँचाईयों का स्पर्श करती हैं, जो कम से कम हिंदी में तो अभी तक अनछुई हैं। उनका यह अनूठापन लेकिन उनके विरुद्ध भी जाता लग रहा है। रावी जैसी इक्का–दुक्का लघुकथाएँ भले ही लोगों ने लिखी हों, पर रावी का अनुसरण किसी के लिए भी संभव नहीं है। सो, उनकी परंपरा आगे नहीं बढ़ी। उनकी अद्वितीयता आगे भी उनकी परंपरा बनने देगी, मुझे संदेह है। रावी को खारिज कर पाना किसी के लिए भी आसान नहीं होगा, लेकिन आधुनिक लघुकथा के लिहाज से साहित्य–प्रांगण में कोई उनकी प्रतिमा स्थापित करने के लिए शायद ही उत्सुक हो। रावी की लघुकथाएँ पाठकों को प्रभावित करती हैं, थोड़ा ही सही, उनकी संवेदना का हिस्सा बनती हैं, ज्ञान में वृद्धि भी करती हैं, लेकिन शायद काल ओर देश का संस्पर्श उनमें नहीं है। देश–काल के बगैर सर्वांग–संपूर्ण रचना का सृजन संभव है क्या? कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की लघुकथा 'सेठजी' उनकी पहली लघुकथा है और उनकी एक श्रेष्ठ रचना भी, क्योंकि वहाँ देश भी मौजूद है और काल भी। साथ में जीवन–व्यापार तो है ही, जिसके बिना कोई भी उत्तम रचना उसी तरह व्यर्थ है, जैसे किसी रमणी के गले में पड़े बगैर डिब्बे में बंद पड़ा हीरा जड़ा हार। रावी की लघुकथाओं में 'पहले बाहर, फिर भीतर' मुझे उनकी उत्तम लघुकथा लगी और 'नया बल' भी। उनकी अन्य बहुत–सी लघुकथाएं भी प्रभावशाली हैं।

प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद के बाद विष्णु प्रभाकर ही ऐसे लघुकथा लेखक हैं, जिन्होंने काफी कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें से साठ–पैंसठ को वे लघुकथा मानते हैं, जिन्हें उन्होंने लघुकथा के रूप में प्रकाशित भी कराया है, मगर उन्हें डर है कि उनकी लघुकथाओं को कहीं अमहत्त्वपूर्ण न मान लिया जाए, जैसे कि उनकी कहानियों को लोगों ने बहुत महत्त्व नहीं दिया, न उनके उपन्यासों को समीक्षकों ने बहुत घास डाली। शरत बाबू की उनकी लिखी जीवनी 'आवारा मसीहा' ही उनकी राष्ट्रीय कीर्ति का करण बनी। इस सबके बावजूद *मुझे लगता है कि विष्णु प्रभाकर की कुछ लघुकथाएँ जरूर ऐसी हैं, जिनका स्थान लघुकथा* की पाथियों में बहुत समय तक बना रहेगा, जबकि दिनकर की लघुकथाएं शायद क्रमशः पीछे छूटती चली जाएंगी। 'खोना और पाना', 'फर्क' तथा 'ईश्वर का चेहरा' जैसी उत्कृष्ट लघुकथाएँ लिखने वाले विष्णु प्रभाकर लघुकथा को विधा के रूप में स्थापित होते देखकर

प्रायः खुशी का इजहार करते हुए समकालीन लघुकथा लेखकों को प्रेरित करते रहे हैं, 'पंडितजी' जैसी श्रेष्ठ लघुकथा लिखने वाले जानकीवल्लभ शास्त्री की तरह। सुना है कि शास्त्रीजी ने भी 30-35 लघुकथाएँ लिखी हैं, पर अभी तक वे पाठकों के सामने नहीं पहुँची हैं। उनमें से दस भी अगर 'पंडितजी' जैसी सर्वांग-संपूर्ण लघुकथाएँ निकल पड़ीं तो यह लघुकथा के इतिहास संग्रह 'बंधनों की रक्षा' कहीं मिले तो उसमें से उनकी दस श्रेष्ठ लघुकथाएँ पाठकों के सामने रखी जाएँ।

रामनारायण उपाध्याय की लघुकथाओं में उनकी सर्वोत्तम रचना मुझे 'खंडित वाणी' लगी। उग्र के तेवर तो नहीं, विचार और भाव में वैसा ही तेज लिये हुए हैं परसाई की लघुकथाएँ। 'दानी' उनकी एक आदर्श लघुकथा है। व्यंग्यकार के रूप में प्रतिष्ठित परसाई की लघुकथाओं की नकल में हिंदी में बहुत-सी कचरा लघुकथाएँ लिखी गई और एक जमाने में तो ऐसा लगता था कि जैसे व्यंग्य के बगैर लघुकथाएं लिखी ही नहीं जा सकती, मगर बाद में उस समझ की हवा निकल गई और लघुकथा ने उन लोगों से छुट्टी पाकर सही राह पकड़ ली। व्यंग्यधर्मियों को व्यंग्य मुबारक और बहुत शौक चर्राए तो वे लोग लघुव्यंग्य लिखकर अपनी इच्छा की पूर्ति कर लें, लेकिन खुदा के लिए लघुकथा को बख्श दें। फूहड़ व्यंग्य लघुकथाओं ने इस विधा का जितना नुकसान किया है, उतना शायद किसी ने भी नहीं किया। प्रसिद्ध व्यंग्यकार शंकर पुणतांबेकर ने न सिर्फ लघुकथाएं लिखकर, बल्कि लगातार आलोचनात्मक लेख भी लिखकर लघुकथा की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 'आदम और हौवा' उनकी श्रेष्ठ लघुकथा है।

'हंस' में लगातार लघुकथाएँ छापने वाले कथाकार राजेंद्र यादव ने खुद भी कुछ लघुकथाएँ लिखी हैं, जिनमें से 'अपने पार' को मैं उनकी उत्कृष्ट लघुकथा मानता हूँ और इस विधा की शक्ति और सामर्थ्य का आकलन करना हो तो उनकी लघुकथा 'हनीमून' को देखा जाना चाहिए। एक लघु उपन्यास शायद वह सब न कह सके, जो राजेंद्र यादव की इस लघुकथा ने कह दिया है। यह एक आदर्श लघुकथा है, एक मानक, एक मीनार, एवरेस्ट की एक चोटी, जिसे पाना, जिसे छूना किसी भी लेखक के लिए गर्व की बात हो सकती है। एक टोकरी भर मिट्टी (माधवराव सप्रे), विमाता (छबीलेलाल गोस्वामी), घासवाली (रामवृक्ष बेनीपुरी), सेठजी (कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'), कश्मीरी सेब (प्रेमचंद), पाठशाला (गुलेरी), कलावती की शिक्षा (प्रसाद), झलमला (बख्शी), बिल्ली और बुखार (माखनलाल चतुर्वेदी), पहले बाहर, फिर भीतर (रावी), फर्क (विष्णु प्रभाकर), बंधनों की रक्षा (आनंदमोहन अवस्थी), पंडितजी (जानकीवल्लभ शास्त्री), दानी (हरिशंकर परसाई) के साथ राजेंद्र यादव की लघुकथा 'हनीमून' को हिंदी की प्रारंभिक श्रेष्ठ लघुकथाओं में बेहिचक गिना जा सकता है। ये लघुकथाएँ हिंदी के ऐसे हीरें हैं, जिन्हें दुनिया की किसी भी भाषाई मंडी में रखकर मुँहमांगी कीमत वसूल की जा सकती है।

वह चाहे हरिशंकर परसाई रहे हों, उग्र या शरद जोशी, व्यंग्यकारों की लघुकथाएँ सही लघुकथा की परंपरा में अपना दावा मजबूत नहीं कर पातीं। एक समय था, जब व्यंग्य प्रधान लघुकथाओं का बोलबाला था, मगर धीरे–धीरे लघुकथा ने एक दूसरी ही और सही राह पकड़ ली। सिद्ध व्यंग्यकारों को छोड़ दें तो सामान्य व्यंग्यकारों ने लघुकथा के नाम पर अस्तरीय लघुकथाओं से मैदान को पाट दिया और लघुकथा की स्थापना और स्वीकृति के मार्ग को कुछ और लंबा कर दिया। शरद जोशी की 'कुत्ता' जैसी लघुकथा हो या यशपाल की 'संतोष का क्षण', पौराणिक आख्यानों की आड़ लेकर समसामयिक जीवन से खुद को जोड़ने का प्रयास करती जरूर हैं और क्षणिक प्रभाव भी डालती हैं, लेकिन कुछ ऐसा निर्मित नहीं कर पातीं, जिनसे पाठक कहीं भीतर तक प्रभावित हो। धार्मिक–पौराणिक मिथकों के प्रयोग का आदर्श नमूना देखना हो तो पृथ्वीराज अरोड़ा की लघुकथा 'दुख' देखनी चाहिए। ऐसी लघुकथाएँ फिर भी इस परंपरा की शक्ति और सामर्थ्य का कभी–कभी एहसास घटनाओं को लेकर रची गई लगती हैं और लघुकथा की बजाय सत्यकथा या घटनाकथा के ज्यादा करीब बैठती हैं और पाठक पर उतना ही प्रभाव डालती है, जितना सुबह–सुबह अखबार में पढ़ी गई रोचक खबरें।

खबरों पर केंद्रित कमल गुप्त की 'तेजाब' लघुकथा लेकिन पाठक पर ऐसा असर डालती है कि देर तक और दूर तक वह पाठक का पीछा करती है, जैसे प्रेमचंद की लघुकथा 'कश्मीरी सेब' या रावी की लघुकथा 'पहले बाहर, फिर भीतर'। ये हिंदी की ऐसी लघुकथाएँ हैं, जो पाठक को बाहर की दुनिया के हालचाल बताते–दिखाते हुए भी उसे भीतर से बदलने का प्रयास करती हैं। अपनी रोचकता और संक्षिप्ति के चलते ये लघुकथाएँ पाठक का मनोरंजन तो करती ही हैं, पर सिर्फ मनोरंजन ही नहीं करतीं, कुछ और भी करती हैं, जो अच्छा और सार्थक साहित्य प्रायः किया करता है, और जो करने की उम्मीद उससे की जाती है। 'तेजाब' नाम से इनका संग्रह भी छपा है। 'तेजाब' जैसा असर डालने वाली कमल गुप्त की दूसरी लघुकथा है 'असर', जो दंगाग्रस्त शहर में चूहों के माध्यम से अभाव के चलते मनुष्यों तक के स्वभाव में आ जाने वाले परिवर्तनों की तरफ संकेत करती है। कमल गुप्त ने कई श्रेष्ठ लघुकथाएँ ही नहीं लिखी हैं, अपनी पत्रिका 'कहानीकार' के माध्यम से अनेक कथाकारों की लघुकथाएं छापकर उन्हें प्रोत्साहित भी किया है। यह और बात है कि वे लघुकहानी के झंडाबरदार हैं। उनके झंडे के नीचे चाहे ज्यादा लोग नहीं आए, लेकिन वे खुश हो सकते हैं कि व्यंग्यात्मक लघुकथाओं से पल्ला झाड़कर आज की लघुकथा का जो रूप उभर रहा है, वही रूप कमल गुप्त की लघुकहानी का भी या यों कि हिंदी–उर्दू की तरह लघुकथा और लघुकहानी में सिर्फ नाम का ही अंतर है, बाकी आत्मा उनकी एक है। और तो और, शास्त्र एवं मुहावरे तक एक ही हैं।

हिमांशु जोशी हिंदी के बड़े उपन्यासकार हैं, बड़े कहानीकार भी। उन्होंने कविताएं भी लिखी हैं और कुछ लघुकथाएं भी। उनकी लघुकथाओं में कविता का रंग चढ़ा हुआ है और

वे सबसे अलग तरह का आस्वाद देती हुई कविता जैसे चित्र और कहानी जैसे चरित्र देती हैं। वह चाहे उनकी लघुकथा 'लाल हाथों का दु:ख' हो या 'कारण', मनुष्यों के दुखों की ओर संकेत करती हैं और उन दु:खों का कारण भी बताती हैं, वे दुख दूर कैसे हों, इसकी ओर संकेत भी करती हैं। साहित्य शायद संकेत ही दे सकता है, समाधान नहीं। और हिमांशु जोशी की लघुकथा 'समाधान' जिस समाधान की ओर संकेत करती है, वह पाठक को दहशत में डाल देता है : 'उन्होंने हमारी आंखें छीन ली हैं, सपने देखने वाली आंखें....' सारे और बकौल पाश 'सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना' और उन्होंने हमारे सपने मार दिए हैं, सारे सपने।

एक और तेजस्वी लघुकथा लेखक हैं सूर्यकांत नागर, जिन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखकर एक संपूर्ण कथाकार की प्रतिष्ठा पाई है। लघुकथा को स्थापित करने के लिए लगातार सक्रिय रहे सूर्यकांत नागर का कोई लघुकथा संग्रह तो नहीं छपा, मगर उन्होंने जितनी भी लघुकथाएँ लिखी हैं, ज्यादातर स्थाई प्रभाव छोड़ने वाली लघुकथाएँ है। वह चाहे उनकी लघुकथा 'विष बीज' हो, 'दृष्टिकोण', 'नौकरानी' या 'सामान्य–असामान्य', प्राय: सभी पाठक पर गहरा प्रभाव डालती हैं और उसके मानस को बदलने का प्रयास करती हैं, खासकर 'विष बीज', जिसे हम कमल गुप्त की 'तेजाब' या प्रेमचंद की 'कश्मीरी सेब' के समकक्ष रख सकते हैं।

रावी और सिर्फ रावी की लघुकथाओं से जिनकी तुलना कर सकते हैं, वे लघुकथा लेखक हैं विनायक, जिन्होंने कमल गुप्त की पत्रिका 'कहानीकार' द्वारा आयोजित लघुतम कहानी प्रतियोगिता का पहला पुरस्कार पाकर जो छवि अर्जित की थी, उसे क्रमशः पुख्ता करते चले गए और आज हिंदी कथा के क्षेत्र में वे अपनी तरह के अकेले कथाकार हैं और जैसी कहानियाँ, उपन्यास और लघुकथाएँ उन्होंने लिखी हैं, दूर–दूर तक उनका कोई जोड़ीदार नहीं दिखता। उन्होंने तो जैसे एक नया पंचतंत्र ही लिख दिया है। पशु–पक्षियों की भीतरी और बाहरी दुनिया का जितना विश्वसनीय चित्रण विनायक ने अपनी कथाओं में किया है, पढ़कर ताज्जुब होता है। पशु–पक्षियों को आधार बनाकर दामोदरदत्त दीक्षित ने भी लघुकथाएँ लिखी हैं, पर वहाँ व्यंग्यात्मक मानवीकरण द्वारा समकालीन जीवन की कथा कही गई है, पर विनायक की कथाओं में पशु–पक्षियों का वास्तविक जीवन हम ऐसे पढ़ते–देखते हैं, जैसे वन्य जीवन की फिल्में देख रहे हों और इस मामले में हिंदी में विनायक अकेले ही हैं। दामोदरदत्त दीक्षित ने भी हालांकि अपना एक अलग कथा–संसार रचा है और उनका भी कोई जोड़ीदार दूर–दूर तक नहीं दिखता, लेकिन विनायक का यथार्थ जहाँ वन्य यथार्थ है, वहीं दामोदरदत्त दीक्षित का वन्य यथार्थ व्यंग्य से सराबोर मानवीय यथार्थ है और वह एक दूसरे ही रस की सृष्टि करता है। कुल मिलाकर विनायक और दामोदरदत्त दीक्षित अपने ढंग के विशिष्ट और विरले हिंदी कथाकार हैं। विनायक की 'चील' हो, 'आदमी से आदमी तक' या 'माँ', वहाँ पशु–पक्षियों के जीवन यथार्थ में आदमी का सहज प्रवेश या असहज

दखलंदाजी है, लेकिन श्रीनिवास जोशी की लघुकथा 'जनहित' में शेर का जीवन नहीं, उसके जीवन में मनुष्य के जीवन में मनुष्य की उपेक्षा का हृदय द्रावक अंकन है।

विदेश में हिंदी लघुकथा का ठाठ देखना हो तो मॉरीशस के अभिमन्यु अनत और रामदेव धुरंधर की लघुकथाएँ पढ़े। रंगभेद के दो अलग–अलग रूपों का दर्शन कराती अभिमन्यु अनत की लघुकथाएँ 'खिलौना' और 'पाठ' पाठकों पर गहरा असर डालती हैं तो रामदेव धुरंधर की लघुकथाएँ 'भगवान ने मुझे पहचाना था' तथा 'आँखें' पाठकों की आँखें खोल देने का प्रयास करती हैं, लेकिन हमें दुख है कि 'दुख' जैसी श्रेष्ठ लघुकथा लिखने वाले पृथ्वीराज अरोड़ा को सुधीजनों से वह सम्मान नहीं मिला, जिसके वे अधिकारी हैं। मध्य प्रदेश में सूर्यकांत नागर और हरियाणा में पृथ्वीराज अरोड़ा वर्षों से लघुकथा की सामर्थ्य को बढ़ाने में लगे हुए हैं। पृथ्वीराज अरोड़ा की लघुकथाएँ 'दुख', 'पढ़ाई', 'दीवार', 'गुंडे' तथा 'बेटी तो बेटी होती है' पढ़कर लगता है कि हाँ, ये हैं असली लघुकथाएँ और कि ऐसी होती हैं लघुकथाएँ या कि ऐसी होनी चाहिए हिंदी की लघुकथाएँ। ऐसी कथाओं से ही मिलेगा लघुकथा को विधा का दर्जा, विधा का सम्मान, विधा की प्रतिष्ठा और विधा के रूप में उसकी अकादमिक स्वीकृति। यह स्वीकृति लेकिन नरेंद्र कोहली के 'तुलसी दल' के प्राध्यापक दे नहीं सकते, जो तुलसी विशेषज्ञ तो बने फिरते हैं, लेकिन अवधी भाषा के बारे में कुछ नहीं जानते और 'तुलसी दल' के लोगों का ही आजकल बोलबाला है। इसीलिए हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम से लघुकथाएँ उन्होंने अभी बाहर ही रखी हुई हैं।

'तुलसी दल' नरेंद्र कोहली की चर्चित लघुकथा है। उनकी दूसरी चर्चित लघुकथा है 'तर्क', जिसमें बारी–बारी से बड़े और छोटे बेटे बाप को उल्लू बनाकर अपनी–अपनी शादी अपनी–अपनी मनपसंद लड़की से कर लेते हैं। तुलना नहीं करनी चाहिए, मगर एक समय शरद जोशी और रवींद्रनाथ त्यागी सरीखों के साथ नरेंद्र कोहली व्यंग्य का किला जीतने की कोशिश कर रहे थे, इसलिए बरबस शरद जोशी की लघुकथाएँ याद आ गई। कोहली की 'तुलसी दल' और 'तर्क' जैसी लघुकथाएँ तो लघुकथा के ढांचे में फिट बैठ जाती हैं, उनका पाठकीय असर देर तक और दूर तक बना रहता है, लेकिन शरद जोशी की लघुकथाएँ न तो गहरा असर डाल पाती हैं, न ही देर तक और दूर तक वे याद रह जाने वाली लघुकथाएँ सिद्ध होती हैं।

मध्य प्रदेश में हिंदी लघुकथा के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वालों में सूर्यकांत नागर के अलावा सतीश दुबे, सतीश राठी और विक्रम सोनी का नाम प्रमुख है। इनमें से सतीश दुबे ने तो खुद भी कई अच्छी लघुकथाएँ लिखी हैं और उनके कई लघुकथा संग्रह भी छपे हैं। *'अतिथि' और 'अंतिम सत्य'* जैसी इनकी लघुकथाएँ दंगों की स्थितियों में मनुष्यता के दर्शन करा कर पाठक पर अच्छा प्रभाव छोड़ती हैं। विक्रम सोनी की लघुकथाएँ मजदूरों और दलितों की जीवन स्थितियों से दो–चार होती हैं तो रूप देवगुण की लघुकथाएँ शिक्षा जगत पर अपना ध्यान केंद्रित करती हैं। इसी तरह भगीरथ की लघुकथाएँ राजनीति के

छिछलेपन को उजागर करती हैं। वे मजदूरों और बेरोजगारों की जीवन स्थितियों पर सूक्ष्म दृष्टि डालती है।

लघुकथा लेखक के रूप में चंद्रमोहन प्रधान की चर्चा प्रायः नहीं होती। एक अच्छे कहानीकार के रूप में लोग उन्हें जानते हैं, लेकिन उन्होंने कुछ बहुत अच्छी लघुकथाएँ लिखी हैं, मसलन 'वीआईपी का भाई', 'तुलना' या 'व्यवहार की बात'। वह चाहे नरेंद्र कोहली हों या चंद्रमोहन प्रधान, पृथ्वीराज अरोड़ा हों या सूर्यकांत नागर, उनकी लघुकथाओं में पाठकों को कहीं गहरे तक प्रभावित करने की क्षमता है। लघु होते हुए भी ये रचनाएँ दीर्घजीवी हैं, क्षण में खत्म होने के बावजूद इनमें क्षण भंगुरता नहीं है। साहित्य में कोई आईएसआई मार्क होता है तो इनकी चर्चित लघुकथाओं को वह बेहिचक दिया जा सकता है। कुछ ऐसी ही आईएसआई मार्क देने लायक हसन जमाल ने लिखी हैं : प्रत्याक्रमण, दंडनीय, सहयोग दंड और प्रतिशोध आदि।

दूसरे दौर की कुछ श्रेष्ठ लघुकथाओं का चुनाव करना हो तो मैं बेहिचक 'तेजाब' (कमल गुप्त), 'तर्क' (नरेंद्र कोहली), 'दुख' (पृथ्वीराज अरोड़ा), 'विष बीज' (सूर्यकांत नागर), 'चील' (विनायक), 'पाठ' (अभिमन्यु अनत), 'आँखें' (रामदेव धरंधर), 'जनहित' (श्रीनिवास जोशी), 'वीआईपी का भाई' (चंद्रमोहन प्रधान), अतिथि (सतीश दुबे), भागी हुई लड़की (युगल), लाल हाथों का दुख (हिमांशु जोशी), दाल–रोटी (भगीरथ), हमदर्द (नरेंद्र प्रसाद 'नवीन', अकाल (काशीनाथ सिंह), पड़ोसी (हबीब कैफी), द्राक्षा (अर्चना वर्मा), बलि (मुकेश वर्मा) और 'सहयोग दंड' (हसन जमाल) के नाम लूँगा। इन लघुकथाओं के लेखकों का जन्म भले ही परतंत्र भारत में हुआ हो, लेकिन इन्होंने अपनी लघुकथाओं में स्वतंत्र भारत (मॉरीशस भी) के जीवन व्यापार को चिन्हित करने का सफल प्रयास किया है।

संवाद

माध्यम कोई भी हो, सर्जनात्मकता पहली शर्त है

(डॉ० नरेन्द्र मोहन से विजय विद्रोही की बातचीत)

डॉ० नरेन्द्र मोहन का रचना संसार बहुआयामी है—कविता, डायरी, संस्मरण, आलोचना एवं नाटक आदि विधाओं में उन्होंने लिखा है, लिखा ही नहीं उसकी गहरी पड़ताल भी की है।

उनकी कविताँए पढ़ते हुए लगता है वे मूलतः कवि हैं, नाटक पढते हुए लगता है जैसे यह उनके सृजन की धुरी है और उनकी आलोचना पुस्तक पढ़ते हम आलोचना कर्म के केंद्रीय मुद्धों पर एकाग्र होने लगते हैं। यह तभी संभव होता है जब रचनाकार अपने रचना माध्यम और रचना भूमि के साथ विंधा हुआ हो। कई विधाओं और रचना सरोकारो से जुझने वाले नरेन्द्र मोहन के लेखन की सार्थकता का शायद यही राज है।

नरेन्द्र मोहन एक काव्यांदोलन "विचार कविता" के सूत्रधार हैं। लंबी कविता को काव्य विमर्श के केन्द्र में लाने की पहल भी उन्होंने की है। एक आलोचक के तौर पर उनकी ख्याति का आधार उनकी दस आलोचनात्मक पुस्तके और पन्द्रह संपादित पुस्तके हैं। जो नये विमर्श व विचारों को उकसाती है। समकालीन कविता, उपन्यास और कथनी के बारे में तथा उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार मंटो पर अपने कार्य से वे विशेष रूप से जाने गए है पंजाबी और अंग्रेजी में भी उनकी गति समान है। पंजाबी में उनके तीन नाटक, एक कविता संग्रह और अंग्रेजी में उनकी पुस्तक THE ETERNAL NO : PROTEST AND LITERATURE पर्याप्त चर्चा का विषय रही है। विगत पन्द्रह वर्षों में उन्होंने पाँच नाटक लिखे हैं, जो प्रसिद्ध रंगकर्मियों के निर्देशन में महत्त्वपूर्ण नाट्य संस्थाओं द्वारा मंचित होने के बाद प्रकाशित हुए और रंगजगत में व्यापक चर्चा का आधार बने हैं। कई नाटक दूरदर्शन पर भी दिखाये गए हैं। उनकी कहानी पर आधारित 26 कड़ियों का एक धारावाहिक "उजाले की ओर" डी.डी.

एक पर प्रसारित किया जा चुका है। प्रस्तुत हैं उनके रचना संसार पर केन्द्रित एक विशेष बातचीत।

विजय विद्रोही :– आपने कविता लिखना कब प्रारंभ किया? पहली कविता कब छपी?

नरेन्द्र मोहन :– कविता लिखना कॉलेज के दिनों में ही शुरू कर दिया था। तभी 1952-53 में कुछ कविताएँ छपी थी। मेरी अंतरमुखी प्रवृत्ति शुरू से ही रही है। अपने में और विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं में इसे रहने की आदत सी थी। इस आदत ने अभी तक पीछा नहीं छोडा है। हाँ अंतर्मुखी प्रवृत्ति किंचित कम हुई है आस–पास के और परिस्थितियों के दबावों की वजह से। कुछ इसके आर्थिक–पारिवारिक कारण भी रहे होगे – कुछ ऐसा भी जिसकी कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं हो सकती हो। इस अन्तर्मुखता और इससे जुड़े अकेलेपन को भरने के लिए या उनके स्रोतों की पहचान के लिए संभवतः कविता लिखनी शुरू की।

विजय विद्रोही :– कविता लिखने की प्रक्रिया क्या है?

नरेन्द्र मोहन :– जब भी जेहन में कोई विचार–भाव या बिंब आता है तो उसे मैं नोट कर लेता हूँ। यदि उसी समय वह कविता ढल गया तो पहला ड्राफ्ट तैयार हो जाता है। कभी–कभी कोई–कोई बिंब अपनी चमक दिखाता रहता है। चिढ़ाता और ललचाता है। उस सूरत में मैं उसे छोड़ देता हूँ। वर्षों बाद वह दूसरे रूप में आकर मेरी सारी चेतना को घेर लेता है और अभिव्यक्त हो जाता है। कई बार एक विचार प्रक्रिया मन मस्तिष्क में निरंतर चलती रहती है और कविता बनती जाती है। कविता एक क्षण में भी पूरी हो सकती है और कभी उसे पूरा होने में कई दिन, हफ्ते और वर्ष भी लग सकते हैं। कई बार कविता शुरू तो हो जाती है, लेकिन पूरी नहीं हो पाती है। अधूरी रह जाती है। उस कविता को जब मैं बाद में उठाता हूँ तो पूरी हो जाती है। ऐसा मेरे साथ कई बार हुआ है।

विजय विद्रोही :– कविता की पहली शर्त आप किसे मानते है?

नरेन्द्र मोहन :– कविता का कविता रूप में सार्थक होना पहली शर्त है। आकार में बड़ा या छोटा, लघु या लंबा होना नही। कविता छोटी हो या बडी सृजनात्मकता पहली शर्त है।

विजय विद्रोही :– कवि कर्म और आलोचक धर्म क्या परस्पर विरोधी है?

नरेन्द्र मोहन :– कवि कर्म और आलोचक धर्म परस्पर विरोधी नही हैं। जितना बड़ा कवि होगा उतना बड़ा आलोचक नहीं बन पाएगा, ऐसा मैं नहीं मानता। पहली बात तो यही कि आज का कवि यथार्थ के प्रति प्रतिक्रियात्मक भावात्मक ढंग से नहीं आलोचनात्मक ढ़ंग से करता है। कवि हो या आलोचक यथार्थ से मुँह नहीं मोड सकता। उससे जूझने का प्रमाण उसे देते रहना होगा। इसलिए मैं मानता हूँ कि कवि की आँखे शिकारी की आँखो के समान

होती है। वह निमर्मतापूर्वक अपने अनुभव के रेशे–रेशे को पड़तालता है और अभिव्यक्त करता है।

विजय विद्रोही :– विद्रोह का भाव या विचार आपकी प्रत्येक रचना में है। ऐसा क्यों?

नरेन्द्र मोहन :– आत्महत्या और विद्रोह में से आप किसे चुनेगे? आप यथास्थिति बाद को चुनेगे या उसे बदलना चाहेंगे मुझे आत्मघात और आत्मनिषेध के बजाय विद्रोह का रवैया अधिकाधिक सार्थक और प्रासंगिक लगता है। इस आधार पर स्थितियों से जूझने और संघर्ष करने की प्रवृत्ति को बनाए रख सकते हैं। मूल्य निषेधी और आत्महंता जैसी स्थितियों के बीच में से मूल्यों के लिए लगातार लड़ते रहने की आकांक्षा को आप विद्रोह के जरिए ही व्यक्त कर सकते है। इसलिए मैं विद्रोह का कायल हूँ।

विजय विद्रोही :– आप विचार कविता के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। आप बतायंगे कि विचार कविता की बात कब शुरू हुई। इसके आधार सूत्र क्या हैं? और यह किन–किन अर्थों में पिछली कविताओं से भिन्न है?

नरेन्द्र मोहन :– आपके इस प्रश्न के साथ कई प्रश्न लिपटे हुए हैं। मैं एक–एक करके इन प्रश्नों को लेता हूँ। पहला यह कि विचार कविता की बात क़ब शुरू हुई? सन 1973 ई० में विचार कविता का प्रस्ताव रखने और उस पर विचार–विमर्श होने का अर्थ यह है कि मैं 4-5 वर्ष पहले से ही कविता की बदली हुई प्रवृति और बनावट पर सोचता आ रहा था। और मैंने लक्षित किया था कि विचार इन कविताओं की धुरी और केन्द्रीय प्रवृत्ति है। इसलिए उस दौर की कविताओं को विचार कविता कहकर पुकारना मुझे ठीक लगा। तभी विचार कविता के आधार सूत्र तैयार किये गए थे। और उन पर कवि आलोचकों की टिप्पणी और प्रतिक्रियाएँ आमंत्रित की गई थी। जो *संचेतना* के विचार कविता विशेषांक 1973 ई० में प्रकाशित की गई थी। ये आधार सूत्र इस प्रकार थे।

(क) विचार कविता पिछली कविता धारणाओं से अलग आज की नयी सर्जनात्मकता की सूचक कविता।

(ख) विचार की प्रामाणिकता का आग्रह। कविता की भावनामूलक प्रवृति का अस्वीकार। अनुभव से नहीं अनुभववाद से मुक्ति की कविता। आज के सम सामाजिक यथार्थ के समानांतर अनुभूति और विचार के बदले हुए रिश्ते की तलाश।

(ग) विचार की प्रामाणिकता का अर्थ किसी एक विचार की सीमाबद्धता नहीं, बल्कि समसामयिक स्थितियों के समानांतर समसामयिक कविता दृष्टि है।

(घ) विचार कविता समसामयिक स्थितियों की गहरी समझ और पहचान पर बल देती है। और इसमें भावुक या रोमानी हुए बिना व्यक्तियों और स्थितियों के भीतर की विसंगति और बिडंबना का उद्घाटन किया जाता है। इसमें स्थितियों के भीतर की स्थितियों, चेहरों

के पीछे चेहरों की सच्चाई को सामाजिक, राजनैतिक प्रक्रियाओं की भीतरी तहों सहित बिना भाव विह्वल या उत्तेजित हुए पकडा जाता है।

(ङ) विचार कविता का संसार अपनी प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति में सरल और सपाट नहीं है। यह जटिल रचना संसार की संगति ठोस संदर्भो में खोजती है।

जाहिर है यह कविता नयी कविता से भिन्न है। विचार इसकी धुरी है। विचार इसके केन्द्र में स्थित्त है। विचार से ही पूरा अनुभव और रचाव नियंत्रित है। नयी कविता में अनुभव की प्रामाणिकता पर बल दिया गया था, जबकि विचार कविता में विचार की प्रामाणिकता और अनुभव एवं विचार के विशिष्ट समीकरण पर। हमने भोगे हुए अनुभव की पोल खोली। और अनुभववाद से मुक्ति का रास्ता सुझाया था। विचार के कविता के केन्द्र में आ जाने से कविता की इकाईयों में भारी परिवर्तन हुआ। विचार ने इसकी संरचना को प्रभावित किया। भावुक होने की गुंजाईया थी नहीं। मायाबी तंत्र का मुकाबला करते हुए आप संवेग पर कैसे निर्भर कर सकते हैं। इसलिए विचार कविता ने अनुभव के ज्ञानात्मक और वैचारिक होने को रेखांकित किया।

विजय विद्रोही :– क्या लंबी कविता का आंदोलन विचार कविता को स्थापित करने के लिए लाया गया?

नरेन्द्र मोहन :– ऐसा नहीं है। मैं चूँकि दोनो से जुडा हुआ था। इसलिए यार लोगों ने ये बातें उड़ा दी। लंबी कविता की भूमिका विचार कविता से बिल्कुल भिन्न है। यह कोई काव्य प्रवृति या काव्यांदोलन नहीं है। यह एक विशिष्ट काव्य माध्यम है। जिसे पहचानने की पहल सर्वप्रथम मैंने की और जिसे रेखांकित के लिए मैं निमित बना।

विजय विद्रोही :– लंबी कविता के आधारभूत गुण क्या हैं आपके अनुसार?

नरेन्द्र मोहन :– मेरे विचार से लंबी कविता की केन्द्रीय विशेषता है दीर्घकालिक तनाव। इससे अनुभूति और विचार, ज्ञान और संवेदना एक साथ फैलने लगते हैं। बाहरी भीतरी धरातलों को छूने लगते हैं और एक रूपाकार में ढलने लगते हैं। विभिन्न भावों और विचारों का जो संघात होता है लंबी कविता में, वह इस तनाव में से ही फूटता है। दूसरे, विभिन्न भाव दशाएँ ओर मनोदशाएँ और विचार जिस तरह से लंबी कविताओं में गुंफित रहते हैं उससे भी इसे एक अलग रूप मिला है। तीसरे, लंबी कविता में केवल भाव या विचार का होना काफी नहीं है। उसमें संवेदना और विचार का विशिष्ट विधान रहता है। विचार संवेदन को संवेदन विचार को परस्पर विंधते प्रभावित करते हैं। वैचारिक संवेदना मुक्तिबोध के शब्दों में – "ज्ञानात्मक संवेदना लंबी कविता की प्रवृत्ति का हिस्सा है। जिसे नाटकीय विधान के बिना साध पाना मुश्किल है।" इस तरह से देखे तो काव्य श्रृंखला को लंबी कविता नहीं कहा जा सकता।

विजय विद्रोही :– लंबी कविता लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली?

नरेन्द्र मोहन :– जब कोई कवि एक बडे फलक पर तनाव को झेलता है। तो उसे एक ऐसे माध्यम की जरूरत होती है। जहाँ वह तनाव के विविध रूपों की अभिव्यक्त कर सके।

मैं बचपन से लेकर अब तक इस तनाव से घिरा रहा हूँ जिसका एक छोर इतिहास तो दूसरा छोर वर्तमान। इस तनाव को छोटी कविताओं में भी अभिव्यक्त करता रहा हूँ। लेकिन उसे संपूर्ण रूप से पकड़ने के लिए मुझे लंबी कविता का माध्यम जरूरी लगा। इस अर्थ में यह माध्यम मेरे लिए एक सर्जनात्मक मजबूरी भी रहा। आप जानते ही हैं कि मुक्तिबोध के लिए भी लंबी कविता लिखना एक सर्जनात्मक मजबूरी ही थी। मुझे लगता है कि एक लंबे समय तक झेला गया तनाव—उस तनाव के साथ जुड़े हुए विभिन्न संदर्भ, स्मृतियाँ और साहचर्य मुझे भीतर ही भीतर इस काव्य माध्यम की तरफ प्रेरित करते रहे हैं। लंबे समय तक जिए गए इस तनाव के साथ एक भाव दशा या मनोदशा ही नहीं होती, अनेक भावदशाओं व मनोदशाओं का संघात और संघर्ष कवि मानसिकता में चलता रहता है।

विजय विद्रोही :— आपने लंबी कविताओं में दीर्घकालिक तनाव को प्रमुख स्थान दिए हैं? यह दीर्घकालिक तनाव आपकी लंबी कविता "एक अग्निकांड जगहे बदलता" में किस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है?

नरेन्द्र मोहन :— "एक अग्निकांड जगहे बदलता" में एक लंबा इतिहास खंड आया है। जो मेरी चेतना पर छाया रहा है। बचपन की बहुत सी स्मृतियाँ और प्रसंग मुझे घेरे रहे हैं। और यूसुफ के चरित्र के गिर्द लिपटते चले गए हैं। एक लंबे दौर 30-40 की अवधि में धारण किया गया तनाव मेरी मानसिकता में रचता बसता गया है। विभाजन से लेकर आज तक के संतापों को कहीं वैचारिक धरातल पर तो कहीं स्मृतियों के सहारे इस कविता में रचा है। तथ्यों और आकंड़ों घटनाओं और प्रसंगों के रूप में भी नही, चेतना के तौर पर भी इतिहास मुझे वेंधता रहा है। इसे केवल "मैं" के माध्यम से अभिव्यक्त करना संभव नहीं था। यूसुफ उस समय के हादसों और तकलीफों को अभिव्यक्त करने में समर्थ है मेरा साथी है।

विजय विद्रोही :— कविता लिखते समय आपकी आलोचक दृष्टि आड़े नहीं आती है?

नरेन्द्र मोहन :— आलोचक दृष्टि आडे नहीं आती है। वह कुछ मदद ही करती है। आलोचक दृष्टि यह पहचान देती है कि हम देख सके कि हमारा अनुभव क्या है? अनुभवों के गुणवत्ता का स्तर क्या है? अपने अनुभवों का आलोचक बनना किसी भी कवि के लिए जरूरी है। आज की कविता की बनावट वैचारिक है। इसके साथ दूसरे सरोकार जुड़े हुए हैं। इस ढंग की आलोचना वृति किसी भी कवि के लिए जरूरी है। अंग्रेजी में ऐसे बेशुमार उदाहरण हैं, लेकिन हिन्दी में ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जहाँ एक उच्च कोटि का आलोचक, एक उच्च कोटि का कवि दोनों साथ—साथ हो।

विजय विद्रोही :— आपने शुरूआत कविता से की, फिर आलोचना, फिर नाटक की ओर झुकाव के मुख्य वजह क्या है?

नरेन्द्र मोहन :— मैं एक लंबे अरसे से कविता लिख रहा था, लेकिन सचमुच मैंने सोचा भी नहीं था कि कभी नाटक भी लिखूँगा। लेकिन कविताएँ लिखते हुए मुझे अहसास होता रहा कि मेरे भीतर कुछ संदर्भ ओर प्रसंग ऐसे उठते फैलते रहते हैं जिनहें मैं लंबी कविताओं

में भी संयोजित नहीं कर पा रहा हूँ। शायद ऐसे ही किसी सर्जनात्मक क्षण में मुझे महसूस हुआ हो कि मैं नाटक लिखूँ। हो सकता है उसके बीज, जैसा कि कुछ मित्र कहते हैं कि मेरी कविताओं में पहले से ही मौजूद रहे हैं। बहरहाल जो भी हो, मेरे अवचेतन में ऐसे प्रसंग, संदर्भ और कथाएँ जरूर पडी रही होगी जो नाट्य माध्यम में अभिव्यक्ति की राहें देखती होगी। वह भीतरी तनाव जो किसी अन्य फार्म में अभिव्यक्त नहीं हो सकता था, नाट्य कर्म में अभिव्यक्त हुआ। इस धरातल पर मैं इसे सृजनात्मक मजबूरी ही कहूँगा। मेरी अधिकतर कविताओं में संवादो का नाट्कीय विधान है। संवादों के जारिए मैं प्रसंगो के पीछे के प्रसंगो को, स्थिति के पीछे की स्थितियों को, उनके द्वन्द और तनाव को भी अभिव्यक्त करता रहा हूँ जो मूल रूप से एक नाटकीय क्रिया है।

विजय विद्रोही :– कबीर पर पहले भी नाटक लिखे जा चुके हैं, फिर आपको कबीर पर नाटक लिखने के जरूरत क्यों पड़ी?

नरेन्द्र मोहन :– कबीर पर जब मैं नाटक लिखना शुरू किया तो मैं जानता था कि कबीर को आधार बनाकर पहले भी दो नाटक लिखे जा चुके हैं जो चर्चित हो चुके हैं। कबीर को मैने इस नाटक में पूर्वचर्चित दोनों नाटकों से भिन्न धरातल पर उठाया है। इस नाटक में कबीर की विद्रोही चेतना नाटकीय स्थितियों से संयुक्त होकर प्रखर से प्रखरतम होती गई है। प्रसंगों का संयोजन भी संभवतः मैने इसी आशय को गहराने के लिए किया है। इस नाटक में मैं वर्तमान से अतीत में गया हूँ और अतीत से पुनः लौटा हूँ। कबीर को मैंने वर्त्तमान में लाकर खडा कर दिया है। जहाँ तक पात्रों की बात है—बिजली खाँ, बोधा और रमजनियाँ जैसे पात्र और किस नाटक में मिलेगे?

विजय विद्रोही :– हाल में प्रसिद्ध रंग निर्देशक सतीश दवे द्वारा निर्देशित और श्री राम सेंटर में मंचित हो चुके "अभंग गाथा" के बारे में कुछ बतलाएँ? "अभंग गाथा" के प्रेरणा स्रोत क्या रहे हैं?

नरेन्द्र मोहन :– "अभंग गाथा" मराठी संत कवि तुकाराम पर केन्द्रित है। तुकाराम उनकी अभंग वाणी और समय कैसे दृभ्यों गतियों में मेरे नाट्य अनुभव का हिस्सा बनते गए—कहना कठिन है। हो सकता है उनके अभंगों को पढ़ते हुए या सुनते हुए उनसे विंधा हुआ महसूस किया हो और उनकी जिन्दगी को नाट्य रूप देने के बारे में सोचा हो। मुझे याद है उनके अभंग पढ़ते हुए मुझे कबीर की साखियाँ बेसाख्ता याद आ जाती थी। सोचता हूँ क्या कबीर मुझे तुकाराम तक ले आए? ठीक–ठीक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि मैं इस नाटक को लिखने में क्यों प्रवृत हुआ। हाँ यह ठीक है कि तुकाराम के संतापी, संघर्षो, उनकी सर्जनात्मक अकुलाहट और छटपटाहट के धरातलों से मैं बार–बार मथा जाता रहा।

विजय विद्रोही :– संत तुकाराम की जिन्दगी के कौन से पक्ष ने आपको अभंग गाथा लिखने के लिए प्रेरित किया?

नरेन्द्र मोहन :– संत तुकाराम की जिन्दगी के यों तो कई पक्ष हैं। लेकिन दो पक्षों ने मुझे खासतौर पर यह नाटक लिखने के लिए बाध्य किया। पहला सच के प्रति उनकी निष्ठा

और उसे अमल में लाने का साहस। सच और साहस उसने पल–पल कचोटती जिन्दगी के दुखते कसकते जलते संदर्भों से अर्जित किये हैं। पारिवारिक सामाजिक दबावों को लंबे समय तक झेलते हुए रोजमर्रा के त्रासद अनुभव से गुजरते हुए।

विजय विद्रोही :– आपके नाटकों में अंकों के बदले दृश्यों का विधान है ऐसा क्यों?

नरेन्द्र मोहन :– भारतीय काव्य शास्त्र में अंको का विधान करने की राय दी गई है। लेकिन पाश्चात्य काव्यशास्त्र में दृश्यों पर अधिक बल दिया गया है। मुझे दृश्यों के विधान में नाट्य व्यापार को बाँधना अधिक प्रिय है। हर दृश्य अथवा क्लाइमेक्स खुद रचता है। और सभी दृश्य मिलकर एक संघर्ष बिन्दू की रचना करते हैं। मुझे यही पद्धति प्रिय रही है।

विजय विद्रोही :– आपके नाटकों में संगीत और लोक पक्ष अधिक मुखर है। ऐसा क्यों?

नरेन्द्र मोहन :– मेरे सभी नाटकों के अन्तर्वस्तु में संगीत समाया हुआ है। 'कबीर' नाटक की परिकल्पना उनके वाणी के उपयोग के बिना संभव नहीं है। 'सींगधारी' में संगीत सांस्कृतिक और लोक मन को उभारने के लिए आया है। 'कलंदर' में कलंदर की वाणी का उपयोग उनके व्यक्तित्त्वों के विभिन्न आयामों को प्रत्यक्ष करने के लिए था। 'नो मेंस लैंड' में पात्रों मनोभूमियों को उद्घाटित करने के लिए और पंजाबी लोक जीवन को उभारने के लिए मुझे लोकगीतों का प्रयोग जरूरी लगा। संगीत पक्ष में यथास्थिति को तोड़ने की भी अद्भुत क्षमता रहती है। इसे 'अभंग गाथा' में भी देखा जा सकता है। जहाँ तक लोकपक्ष की बात है–लोकपक्ष से ही जुड़कर सही प्रतिपक्ष की भूमिका निभाई जा सकती है।

विजय विद्रोही :– आपके नाटकों में लोक कथा और लोक गीतों का प्रयोग अधिकाधिक हुआ है। क्यों?

नरेन्द्र मोहन :– लोक कथा का उपयोग 'सींगधारी' में किया गया है और लोकगीतों का विधान "नो मैस लैंड" में हुआ है। ये दोनो ही नाटक पंजाब के दो त्रासदियों से संबधित है। इन त्रासदियों को रंगकर्म में ढालने के लिए मुझे इन विधियों का सहारा लेना पडा। दूसरे लोक कथा और लोक गीत लोक मानस की गहराई से जुड़े हुए होते हैं। लोक गीतों और लोक कथाओं के जरिए पात्रों को एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्राप्त होती है। उनकी मनोभूमियो के पीछे गुंजती रहने वाली प्रवृतियों का जाने–अनजाने एहसास होता रहता है। इससे पात्रों को हाड़–मांस प्राप्त होता है और एक तरह की प्रामणिकता। इनके नाटकीय उपयोग द्वारा कथा में हरकत पैदा होती है जो नाटक के लिए जरूरी है।

विजय विद्रोही :– आपने दूरदर्शन के लिए भी लिखा है। मौलिक व स्वतंत्र लेखन बनाम दूरदर्शन के लिए लेखन में आपने क्या फर्क महसूस किया?

नरेन्द्र मोहन :– स्वतंत्र लेखन करने और दूरदर्शन के लिए धारावाहिक लेखन के दौरान लेखक को कई तरह के अनुभवों से गुजरना पड़ता है। अपने अनुभवो से यह कहना

चाहूँगा कि जब मैंने दूरदर्शन के लिए "उजाले की ओर" धारावाहिक लिखा तो ऋषिकेश मुखर्जी जैसे बड़े निर्देशक और उनकी टीम के सम्पर्क में आने का मौका मिला। मैंने अनुभव किया कि इस माध्यम की अपनी कुछ अपेक्षाएँ और तकाजे हैं। "उजाले की ओर" कथा रचना में जो मैंने फेटेंसी बुनी थी, मैंने देखा कि उस फेंटेंसी को पटकथा में तार–तार किया जा रहा है। ऋषि दा के साथ लंबी बातचीत के सिलसिले में मैं फेंटेंसी के पक्ष में प्रबल तर्क देता रहा, पर उनका तर्क था कि फेंटेंसी को लाखो करोड़ लोग तक पहुँचाने के लिए इसे सरल या पतला करना जरूरी है? मुझे लगा यह फेंटेंसी की शक्ति भी है, सीमा भी। मैं अपनी रचना को अपने बल पर लाखों लोगो तक संप्रेषित करना चाहूँगा तो मुझे रचना के सरलीकरण की प्रक्रिया से गुजरना ही होगा। यह महसूस करके ही मैं अपनी दुनियाँ यानि रचना संसार में लौट आया।

व्यंग्य

एक यात्रा मेरी भी

● सुबोध कुमार श्रीवास्तव

"इस बार जगधर भैया ने एक भरपूर अंगड़ाई ली और मुझे सलाह दी, तुम अपनी यात्रा गधे पर कर सकते हो। खच्चर भी चलेगा। यूँ भी इस देश के आम आदमी की जिंदगी गधों और खच्चरों से गई बीती हो चुकी है।" पदयात्रा और रथयात्रा के दौर में ये यात्रा कैसी रही, इसे तो आप पढ़कर ही जान सकते हैं।

नेताओं और मंत्रियों की पदयात्राओं व रथ-यात्राओं से प्रभावित होकर मैंने भी निश्चय किया कि मुझे भी एक यात्रा कर लेनी चाहिए। हवाई यात्राओं और हेलीकॉप्टर यात्राओं से जब नेताओं का मन ऊब जाता है तब उन्हें आकाश की जगह अपनी ज़मीन याद आने लगती है। मैं भी अपने जीवन से ऊबने लगा था और छोटी-मोटी नौटंकी कर लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचना चाहता था। साईकिल पर भारत-भ्रमण करने का विचार भी उत्पन्न हुआ पर इसके लिए नई साईकिल खरीदनी पड़ती। पुरानी साईकिल बैसाखियों पर टिकी उस सरकार की तरह थी जो कभी भी गिर सकती थी और उसे दुरूस्त कराने लायक सामर्थ्य मेरे पास नहीं था। अंततः मैंने पदयात्रा करने का ही निर्णय लिया।

अपनी इस सोच को पत्नी के सामने रखा तो वह हंसने लगी जबकि मैंने उसे कोई चुटकुला नहीं सुनाया था। मुझे सीख देते हुए बोली, 'तुम्हारी तबियत तो ठीक है न? आज बहकी-बहकी बातें क्यों कर रहे हो? यात्रा तो हम सब कर ही रहे हैं, जिसका अंत वहां होना है।' उसने आकाश की ओर ऊंगली उठाते हुए कहा, तुम किस यात्रा की बात कर रहे हो, मैं नहीं जानती पर अब इस देश में यात्रा करना सुरक्षित नहीं रहा। आए दिन दुर्घटनाएं होती रहती हैं। हवाई जहाजों का अपहरण हो जाता है, एक ही पांत पर आमने-सामने से आती हुई रेलगाड़ियाँ इस तरह प्रेमालाप करती हैं कि सैकड़ों इन्सानों के लिपिस्टिक के रंग के

लाल खून के धब्बे यहां–वहां बिखर जाते हैं, बसों से यात्रियों को उतार कर उन्हें गोलियों से भून दिया जाता है और बेचारे पैदल यात्रियों पर देशी या सुअर बम फेके जाते हैं। तुम आदर्श पति की तरह अपनी पत्नी की बात सुनो और शांति के साथ घर में दाल–भात खाओं। ससुरा रेल–बस भाड़ा भी तो छुटभैये नेताओं और जेबकतरों की तरह हर साल बढ़ जाता है।' वह छोटे से आंगन में पसरी धूप में बैठ कर चावल बीनने लगी।

मुझे पत्नी की बुद्धि पर पहली बार तरस आया। लगा कि मैंने गलत जगह पर अपनी बात रख दी है। उसने मेरी यात्रा की सोच की धज्जियां उड़ा दी। उसे समझाने की एक कोशिश और भी की मैंने, 'मैं पारिवारिक यात्रा या सैर–सपाटे की बात नहीं कर रहा हूँ। तुमने राष्ट्रीय स्तर के नेताओं की पदयात्राओं व रथयात्राओं की खबरों के शीर्षकों पर कभी तो नज़र दौड़ाई होगी। मैं भी उसी तरह की एक यात्रा करना चाहता हूँ। तुम्हारा क्या विचार है?'

चावल की थाली एक ओर सरकाते हुए वह फिर हंसने लगी और बोली, 'इस अधबुढ़ापे में तुम नाटक–नौटंकी करोगे। कुछ और नहीं सूझा। जब कोई नेता हर तरह से निराश हो जाता है, उसकी और उसकी पार्टी की छवि जनता के बीच दो कौड़ी की हो जाती है और मतदाता उन्हें ठिकाने लगाने का मन बनाने लगते हैं। तब वह पदयात्रा या रथयात्रा की शरण में जाकर लोगों को छलने की कारीगरी करने लगता है। अभी तुम काम के आदमी हो। आठ–दस वर्ष की नौकरी बाकी है। छद्म यात्राओं को गाली मारो और 'जो जहां पर है; वतन के काम पर है...' की तर्ज़ पर अपने बालकों को ईमानदारी से पढ़ाओं। मुझे भी काम करने दो। राशन की दुकान के चावल हैं। एक चौथाई कंकड़ बीनने हैं। इस तरह की सफाई पदयात्राओं से ज्यादा जरूरी है। भाड़ में जाए नेताओं की पदयात्रा और रथयात्रा। वह बुरी तरह तुनक गई।

उसे मनाने का एक प्रयत्न और भी किया मैंने, 'देश के कुछ नेता राष्ट्रीय एकता और देश की अखंडता के लिए पद–यात्रा कर रहे हैं। मैं भी इस दिशा में अपना मुट्ठीभर योगदान देना चाहता हूँ तो तुम मुझे हतोत्साहित कर रही हो। जब श्री जोशी जी कन्याकुमारी से लेकर काश्मीर तक की अपनी एकता यात्रा शुरू करने से पहले कन्याकुमारी मंदिर गए थे, तब उनके साथ उनकी पत्नी व दोनों पुत्रियां भी थीं। और एक तुम हो जो मेरी यात्रा में चुगने के लिए दाने भी नहीं डाल रही हो। मेरे उत्साह पर ठंडे पानी का घड़ा उड़ेल रही हो।'

पत्नी थोड़ा सा भी नहीं पिघली और मेरे सामने अपना दर्शन परोसने लगी, 'जोशी जी बहुत बड़े नेता हैं। राष्ट्रीय स्तर के। उनके गले में हमेशा दुपट्टा जैसा कुछ पड़ा रहता है जो उनके महान व्यक्तित्व में चार चांद लगाता है। वे भौतिकशास्त्र के विद्वान हैं। उनकी बात ही अलग है। और तुम्हें तो ठीक से गमछा लपेटना भी नहीं आता। यह मत भूलो कि तुम *एक शिक्षक* हो और मैं *शिक्षक की पत्नी*। यहाँ चावल–गेहूँ से कंकड़ बीनने से छुट्टी नहीं मिलती, तुम्हारी पदयात्रा के प्रदर्शन के लिए समय कहां से निकालूं! तुम नेता नहीं शिक्षक हो

और दोनों में नैतिक अंतर है। नेताओं को पदयात्राएं करने दो। उन्हें अपनी साख जमाना है। तुम अपना काम करते रहो ताकि तुम्हारी साख पर कोई धब्बा न लगे। तुम्हारी यात्रा घर से शाला और बाजार तक ही सीमित रहना चाहिए।' वह अपने काम में तल्लीन हो गई।

मैंने सच्चे भारतीय पति की परम्परा का पालन करते हुए पत्नी के सामने पराजय स्वीकार नहीं की और एक बार फिर मैदान में कूद पड़ा, 'जब भी कोई नेता अपनी एकता या अखंडता यात्रा पर निकलता है तो उसे देखने भीड़ उमड़ पड़ती है। जय–जयकार के नारे लगते हैं। उसे फूल मालाओं से लाद दिया जाता है। चांदी से तौला जाता है।'

पत्नी ने फौरन अपनी जवाबी गोली दागी, 'हां, हजारों–लाखों लोग नेता को देखने पहुंचते हैं पर उनका भाषण सुनना कोई नहीं चाहता। यदि लोग नेताओं की बातें सुनते–समझते, उन पर यकीन करते तो उन्हें इस तरह के प्रदर्शनों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। और जहाँ तक भीड़ का प्रश्न है तो नौटंकियों में आज भी बहुत भीड़ होती है, बेड़नियों का नाच देखने के लिए आज भी लोग उमड़ पड़ते हैं, भालू और बंदर का नाच बच्चे तो बच्चे; बड़े भी बड़ी तल्लीनता से देखते हैं और सर्कस में जोकर के कारनामें कौन देखना नहीं चाहता। शहर में कहीं दंगल होता है तो कुश्ती देखने लोग टूट पड़ते हैं। मुझे तो लगता है कि नेताओं की पदयात्राएं और रथयात्राएं किसी खतरनाक दंगल की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए प्रायोजित की जाती हैं। तुम इस पचड़े में मत पड़ो और पदयात्रा की सनक छोड़ दो।'

पत्नी की सलाह को दरकिनार करते हुए मैं अपने दोस्तों की राय जानने निकल पड़ा। वे भी नेताओं की इस तरह की यात्राओं को लेकर हल्की–फुल्की चर्चा कर लिया करते थे। लल्लूजी से मैंने कहा, 'मैं भी देश की एकता और अखंडता के लिए कोई यात्रा करना चाहता हूँ। इस संबंध में तुम्हारा मत जानना चाहता हूँ?'

वे अपनी काली भैंस का सफेद ताज़ा दूध पी रहे थे। मेरी बात सुनकर उन्होंने दूध के दो–तीन कुल्ले किए फिर बोले, 'क्या भौजी से झगड़ा हुआ है तुम्हारा? क्यों बे, तू पलायन की बात क्यों कर रहा है आज? मेरी एक बात गांठ में बांध ले। आड़े वक़्त में अपनी लुगाई ही काम आती है। एकता और अखंडता के लिए यात्रा करेगा! संस्कृति का राग अलापने लगा। तू तो शुरू से ही बेसुरा है। यदि तुमने यात्रा की तो मैं बीच रास्ते में ही तुम्हारे कान ऐंठूंगा और खदेड़ कर घर वापस भेज दूंगा।'

लल्लूजी के सामने मैं गिड़गिड़ाने लगा, 'यार, तुम मजाक समझ रहे हो। मैं अपनी यात्रा को लेकर बहुत गम्भीर हूँ। मुझे तुम्हारी मदद की जरूरत है। मेरे कान नहीं ऐंठो, मुझे रास्ता दिखलाओ।'

मेरी बात का उन पर कोई असर नहीं हुआ। बांहों से मुंह पर लगे दूध को पोंछते हुए बोले, 'ढपोरशंख, यात्राओं को लेकर तो वे लोग भी गम्भीर नहीं हैं, जो इस तरह की यात्राओं के जनक हैं और यात्रा के नाम पर मारे–मारे फिरते हैं। तुम अपनी यात्रा को भूल जाओ और लो, तम्बाकू फांको।' लल्लूजी ने मेरी यात्रा पर तम्बाकू की पीक थूक दी।

हारा–थका मैं जगधर भैया के पास पहुंचा और उन्हें भी अपनी यात्रा का संकल्प बतला दिया। सुनकर वे मुस्कुराए फिर मुझसे पूछा, 'तुम पदयात्रा करोगे या रथयात्रा? फैशन में ये दोनों ही हैं।'

मैं उत्साहित हुआ, 'भैया, पदयात्रा करना तो अपनी नियति है। पैट्रोल की कीमत इतनी बढ़ गई है कि महीने में तीन सप्ताह लूना घर पर खड़ी रहती है। साईकिल भी पुरानी है। पदयात्रा की आदत है। सोचता हूँ कि निकल ही पडूं अभियान पर। हिंग लगे न फिटकरी, रंग चोखा होए।'

जगधर भैया की मुस्कान कुछ तीखी हुई, 'रथयात्रा कैसी रहेगी? यार, रथ में अकड़कर बैठने की शान ही कुछ और है।'

मैंने मायूस होते हुए कहा, 'मैंने 'रामायण' और 'महाभारत' सीरियल में व पुरानी धार्मिक और ऐतिहासिक फिल्मों में ही रथ देखे हैं। यूं भी रथों का प्रयोग राजे–महाराजे, सामंत आदि करते रहे हैं। मैं ठहरा ठेठ मामूली आदमी। 'आम आदमी' इसलिए नहीं कह रहा हूँ क्योंकि साहित्यकारों ने बहुत पहले इसकी ऐसी की तैसी कर दी है। मैं रथ का जुगाड़ कहां से करूंगा? अपनी तो पदयात्रा ही भली।'

'तुम्हारी यात्रा का आकार–प्रकार, रंग–रूप क्या होगा? प्रचार भी तो होना चाहिए।' भैया ने पूछा।

इस दिशा में मैंने विचार नहीं किया था तो भारी असमंजस में पड़ गया। पदयात्रा से मुझे प्रचार तो मिलने से रहा, उल्टे लोग पागल, झक्की कहेंगे। मैं कुछ देर तक गहरे चिंतन में डूबा रहा फिर कहा, 'भैया, आजकल अपने दद्दूजी फुरसत में हैं। भैंसों के साथ अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। यूं भी अधिकांश नेताओं और भैंसो की बुद्धि में ज्यादा अंतर नहीं है। मैंने उन्हें लिखूंगा और उनसे निवेदन करूंगा कि वे मेरी यात्रा के लिए भैंसागाड़ी का प्रबन्ध कर दें। इस बहाने उन्हें और उनकी भैंसों को भी प्रचार मिल जाएगा। थोड़ा सा झूठ भी बोलना पड़ेगा कि मैं एक किसान हूँ। कुछ नेता किसान शब्द की टामनामी जपते हुए ही राजनीति में जबरन जमे रहते हैं जबकि इनके न रहने पर इस देश के कृषकों का अधिक भला हो सकता है। देश की एकता के लिए इतना झूठ तो चल ही जाएगा।'

जगधर भैया मंद–मंद मुस्कुराते रहे फिर एक रहस्य सा खोलते हुए बोले, 'यार, तुम्हारा कहना ठीक है। दद्दू तुम्हारी मदद कर सकते हैं। पर उनकी भैंसें असाधारण हैं, भैंसागाड़ी के काम नहीं आएंगी। वातानुकूलित वातावरण में पलने वाली भैंसें तुम्हारा साथ अधिक समय तक नहीं दे सकेंगी। खुद दद्दू जी ने राजनीति में लम्बे समय तक किसका साथ दिया है? तो उनकी भैंसों से अधिक उम्मीद नहीं की जा सकती। तुम्हारी भैंसागाड़ी यात्रा प्रारम्भ होने से पहले ही फ्लॉप हो जाएगी।

भैया की बात में दम था सो मैं निराश हो गया पर यात्रा का भूत सिर पर सवार था तो उनसे ही पूछा, 'अब आप मुझे सुझाइए कि मैं क्या करूं? यात्रा तो मैं करूंगा ही।

इस बार जगधर भैया ने एक भरपूर अंगड़ाई ली और मुझे सलाह दी, 'तुम अपनी यात्रा गधे पर कर सकते हो। खच्चर भी चलेगा। यूं भी इस देश के आम आदमी की ज़िंदगी गधों और खच्चरों से गई बीती हो चुकी है। इस अर्थ में तुम्हारी यात्रा प्रतीकात्मक भी होगी।'

'पर भैया, यहां भी तो एक अड़ंगा है। मुझ गधे को गधा मिलेगा कहां? कौन गधा मुझे अपना गधा देगा?

जगधर भैया को मेरी बुद्धि पर तरस आया। कुछ ऊंचे स्वर में बोले, 'संसद भवन से लेकर विधान सभा भवनों तक में गधे भरे पड़े हैं। पंचायत भवनों के इर्दगिर्द खच्चर भी मिल जाएंगे। नगरनिगमों व नगरपालिकाओं में भी इनकी भरमार है। एक ढूंढ़ोगे, हजार मिलेंगे। पकड़ लेना किसी साले को।' उन्होंने नाक छिनकी।

संसद, विधानसभा, पंचायत, नगरनिगम और नगरपालिका के नाम पर जगधर भैया को नाक छिनकते हुए देखकर मेरी यात्रा करने का उत्साह मर गया। जिन लोगों तक मैं अपनी भावना पहुंचाना चाहता हूँ, वे सब तो जगधर भैया के लिए 'साले' और 'गधे' हैं। और भैया इस देश के आम आदमी के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

मैं वापस होने लगा तो उन्होंने मुझे टोका, 'आखिर तुम्हारा फैसला क्या है? तुम्हारी यात्रा किस तरह की होगी? कहां से शुरू होगी और कहां समाप्त होगी,?'

मैंने पराजित योद्धा की तरह कहा, 'मैं अपनी पत्नी की सलाह मानकर अपनी यात्रा घर से शाला और बाजार तक ही सीमित रखूंगा। जब कभी चुनाव होंगे, और अब तो होते ही रहते हैं, मैं अपनी यात्रा घर से शुरू करूंगा और मतदान केन्द्र पर समाप्त कर दूंगा। किसी हिजड़े के चुनाव चिन्ह पर ठप्पा लगा दूंगा। गधों–खच्चरों से तो हिजड़े ही अच्छे हैं। और भैया, हर यात्रा का उद्देश्य चाहे वह पदयात्रा हो या रथयात्रा हो, वोट जुगाड़ना ही है। देश की एकता और अखंडता तो सिर्फ नारे हैं। इन पदयात्राओं और रथयात्राओं की तो ऐसी की तैसी।'

व्यंग्य

भुलाये न भूले वो बात

● पूरन सरमा

वैसे बाबा बात तो मामूली सी है, लेकिन कई बार ये मामूली बातें भी मैं नहीं भूल पाता हूँ, इसके कारण मुझे डिप्रेशन रहने लगा है तथा रोजाना दो गोलियाँ इन्हें भूलने के लिए मुझे लेनी पड़ती हैं, गोलियाँ कारगर नहीं रही हैं, रोज गोलियाँ गटक रहा हूँ।

अजी वो बात भी कोई भूलने की है क्या? वो बात ही कुछ ऐसी है कि उसे भुलाये भी नहीं भूला जा सकता, कई बार मन करता है कि मैं उसे भूल जाऊं, परन्तु बात इतनी ठोस है कि जेहन से निकलने का नाम ही नहीं लेती, क्या है वह बात कई बार तो मुझे लगता है जैसे मैं भूल गया हूँ, परन्तु उसे लिखने के लिए याद करना जरूरी है, वैसे बात कोई खास भी नहीं है, बेबात की बात है और बात का बतंगड़ है या यों कहिये तिल का ताड़ है, कुछ हुआ भी तो नहीं था, लेकिन बाद में पता चला कि बात हो गई है और इसे भूलना अत्यंत कठिन है, अब बात चल ही पड़ी है तो उसे छिपाना नहीं, बताना ही पड़ेगा, बात आप तक ही रहनी चाहिए, बात दूसरे कान तक पहुंची और सारा मजा किरकिरा हो जाता है, इस बात को खासतौर पर मैं नहीं भूल पाता हूँ और इसीलिए उस न भूलने वाली बात को बताने से पहले मैं तीन बार सोच रहा हूँ, वैसे बाबा बात तो मामूली सी है, लेकिन कई बार ये मामूली बातें भी मैं नहीं भूल पाता हूँ, इसके कारण मुझे डिप्रेशन रहने लगा है तथा रोजाना दो गोलियाँ इन्हें भूलने के लिए मुझे लेनी पड़ती हैं, गोलियाँ कारगर नहीं रही हैं, रोज गोलियाँ गटक रहा हूँ।

शुरू में मेरा पेट खराब हुआ था, घर में सबको पता चल गया था कि मेरा पेट खराब है, मेरी समझ में कुछ नहीं आया, प्राथमिक चिकित्सा के बाद भी जब पेट दुरूस्त नहीं हुआ था तो मुझे डॉक्टर जैन के पास जाना पड़ा था, मेरा हाल सुना तो बहुत ही सहज मुसकान

के साथ बोले थे—'यह क्या कर लिया आपने,' मैंने कहा—'इसमें मेरा कतई दोष नहीं है डाक्टर साहब, अपने आप ही हो गया है, इससे होने वाली पीड़ा मैं भुलाये नहीं भूल पा रहा हूँ, शरीर में इसकी वजह से इतने तरह के उत्पात हो रहे हैं कि मैं उनका बयान नहीं कर सकता।'

डाक्टर साहब अनुभवी थे, बोले—'कुछ भी बताने की आवश्यकता नहीं है, पहले यह बताओ पत्नी के तुम्हारे बीच संबंध कैसे हैं, मेरा मतलब कोई टकराहट या मनमुटाव तो नहीं है,' पत्नी साथ ही थी, उसी ने जवाब दिया—'डॉक्टर साहब, हम तो आदर्श दम्पत्ति हैं, लोग हमारे दाम्पत्य जीवन की दूसरों को मिसाल देते हैं, हमारे बीच कोई तीसरा नहीं हैं, हमारे संबंध मधुर और प्रगाढ़ है,' डॉक्टर जैन ने मुझे देखा और कहा—'तुम्हें कुछ कहना है इस बारे में?' मैंने कहा—'डाक्टर साहब पत्नी ने अक्षरशः सही कहा है। लेकिन डॉक्टर साहब पेट का दाम्पत्य संबंधों से भी कोई संबंध है,' डाक्टर ने फिर मुस्कान फेंकी—यहीं क्यों, आपके बच्चों के आचरण और इनको लेकर आपकी चिंताओं से भी पेट का गहन संबंध है, मैं तो यह भी पूछना चाहूंगा कि आपको वेतन कितना मिलता है तथा आपकी गृहस्थी उस वेतन से किस तरह चल रही है। कोई अन्य परेशानी हो तो वह भी मुझे बताइये, देखिये इलाज तो प्रॉपर तभी संभव हो पायेगा।'

मैं बोला—'डॉक्टर साहब बच्चे तीनों सुयोग्य है, प्रथम श्रेणी से पास हो रहे हैं, कोई शिकायत नहीं है, उनकी ओर से, वेतन भी दस हजार मिलता है, आराम से काम चल जाता है, चिंता, फिकर और परेशानी वाली कोई बात है नहीं,' इस बार डॉक्टर फिर बोला—'तो फिर आपका पेट खराब क्यों हुआ? देखिये वास्तविकता यह है कि आप जो—जो बातें बता रहे हैं—वे सब तनाव से पैदा होती हैं, कोई चिंता लम्बे समय से दिमाग के किसी कोने में पड़ी सताती रही है और आज जो हालत आपकी हो गई है, उसके मूल में वही चिंता भी है, मैं पहले आपके कुछ टेस्ट करा लेता हूँ, यदि वे नार्मल हुये तो कोई खास बात नहीं वरना आपको इलाज लम्बा लेना पड़ेगा, क्योंकि आपका रक्तचाप भी बढ़ कर आ रहा है। इन सबकी अनदेखी नहीं की जा सकती।' डॉक्टर ने जांच लिख दी। मैंने जांच के लिए जानकारी की तो सिर्फ पांच हजार की आवश्यकता थी, मुझे लगा चिंता और तनाव का सिलसिला तो अब शुरू होगा, चूंकि शरीर चिंताजनक स्थिति में था, अतः पांच हजार का प्रबंध करके जांच कार्य सम्पन्न करवाया, सारी जांचें नार्मल थीं, डॉक्टर को दिखाया तो बड़ा खुश हुआ, बोता शुक्र मानिये जांचे सब ठीक हैं, अब यह तो तथ्य है कि रक्तचाप और पेट की खराबी का मूल कारण तनाव है, इसलिए मैं दवा लिख देता हूँ, इन्हें लेना शुरू करो और पांच दिन बाद मुझसे फिर मिलो।

पांच दिन बाद मिलने का मतलब डॉक्टर साहब को दो सौ रूपये और चढ़ाओ, मैंने ईश्वर को याद किया, मनोबल मिला और दवा प्रारंभ कर दी, पांच दिन तक दवा ली परन्तु राहत रत्ती भर भी नहीं मिली, मैं डॉक्टर साहब के पास पहुंचा तो वे बोले—'पहले आपका

वेट लेना जरूरी है, मुझे लग रहा है तुमने अपना वेट लोस किया है। मशीन पर तुला तो वेट उनचास किलो निकला, मैं खुद चिंतित हो गया, मेरा वेट दो माह पहले तुला तब पचपन किलो था, डॉक्टर ने पूछा—'पहले वेट कितना था।' मैंने बताया तो वे बोले—'इसका मतलब आप तनाव से पीड़ित हैं, तनाव में यही होता है, फिर भी चिंता की बात नहीं है, मैं दवा बदल देता हूँ, काम—धाम में मन लगाओ तथा चिंताओं से बचो, मस्त रहना सीखो, सब ठीक हो जायेगा।' चिंताओं से बचने की बात पर मैंने पत्नी को देखा, उसे लगा जैसे चिंताओं के मूल में वह छिपी हुई है। मस्त रहना मेरे बस की बात है नहीं, क्योंकि मैं बात—बात पर विचार करता हूँ तथा बातों को भुलाये भी नहीं भूल पाता हूँ, और आज यह बात नहीं भूलने की कला का परिणाम है कि मैं यह वार्ता लिख रहा हूँ।

डॉक्टर ने दवा बदलकर नया पर्चा थमा दिया, दवा नये सिरे से फिर प्रारंभ हुई, इस बार की दवा ने लाभ दिखाना शुरू किया, गोली लेने से दिन के चौबीस घण्टे तो निकल जाते परन्तु अगले चौबीस घण्टों के लिए वापस दवा की आवश्यकता पड़ती, फिर दवा ले लेता, इस तरह दो माह निकल गये टेंशन और रक्तचाप की दवा निगलते हुये आखिर हारकर फिर मुझे डॉक्टर की शरण में जाना पड़ा और पूछना पड़ा—'डाक्टर साहब यह दवा का सिलसिला कब तक चलेगा?' डॉक्टर बोला—'अनिश्चित काल के लिए,' मैंने कहा—'सर, मैं दवा कब तक लेता रहूंगा, पांच सौ रूपये प्रतिमाह की दवा बहुत महंगा सौदा है, सारा बजट गड़बड़ा रहा है।' डॉक्टर बोला—'दवा मैं तो खाता नहीं, ठीक रहना है तो दवा खाओ, वरना रामभरोसे छोड़ दो अपने आप को,' यह कहने के बाद डॉक्टर ने दो सौ रूपये के नोट फीस के मांग लिये, घर आया तो कुछ समझ में नहीं आया।

पत्नी से सलाह की तो उसने भी डॉक्टर की तरफदारी करते हुए कहा—'डॉक्टर कोई पागल तो है नहीं जो आपको खामख्वाह दवा देगा, दवा लेकर भी यदि नौकरी कर आते हैं तो बुरा क्या है, जिंदा तो रहना ही है, डॉक्टर की सलाह की अनदेखी भारी पड़ सकती है, इसलिए पांच सौ रूपये महीने की दवा लेकर इस गृहस्थी को चलाओ, अभी तक हमने कुछ नहीं किया है, बच्चों की पढ़ाई—लिखाई, नौकरी—धंधा और शादी ब्याह सब बाकी हैं, भगवान न करे कुछ हो, यदि दवा के अभाव में आपको कुछ हो गया तो सारा गुड़ गोबर हो जायेगा।'

मैं तनिक तैश में बोला—तुम्हें अपने गुड़ की पड़ी है, मैं क्या—क्या व्यवस्था करूं? अकेला कमानेवाला हूँ, डॉक्टर कहता है हर माह चैकअप कराओ, चैकअप कराने का मतलब दो सौ रूपये फीस के अलग से निकालो, मैं तो आज से दवा बंद करता हूँ, डॉक्टर के चक्कर खाते—खाते मैं तो पागल हो जाऊंगा। इन डॉक्टरों का क्या है, यह तो अपना उल्लू सीधा करने के लिए दवा बंद करने का नाम ही नहीं लेते हैं,' यह कहकर मैंने बात भी समाप्त कर दी और दवा भी बंद कर दी।

दूसरे दिन दफ्तर जाने लगा तो चक्कर आना शुरू हो गये। पत्नी से चक्कर की बात बताई तो उसका भाषण शुरू हो गया—दवा बंद कर दो और आफत मोल ले लो—डॉक्टर के

कहने की मानते नहीं, अब बिना दवा के दफ्तर जाकर आओ तब पता चलेगा।' उसने तो अपनी बात भी पूरी नहीं की थी कि मेरी तो हालत और बिगड़ने लगी। मैं छटपटाकर पलंग पर पसर गया। मैं लगभग अचेत हो गया था। डॉक्टर को बुलाया तो उसने आते ही कहा–'दवा लेना बंद कर दिया होगा न।' पत्नी के हाँ कहने पर उसने पूछा–'अब दवा लेनी है या नहीं? दवा लेनी हो तो चिकित्सा करूँ अन्यथा मुझे मेरी फीस की चिंता नहीं है, वैसे घर आने के मैं चार सौ लेता हूँ, पत्नी–बच्चे सब घबराए हुये थे सबने कहा कि वे दवा दें। डॉक्टर ने इन्जेक्शन दिया और मुझे चंद ही मिनटों में होश आ गया। डॉक्टर ने हँसकर कहा–'शर्मा जी यह टेंशन है इससे अच्छे–अच्छे की पेंशन हो जाती है। रोज दवा खाओ और रोज काम पर जाओ, शर्मा जी अब ठीक हैं, जो दवा लिखी हुई है, वह रोज लें वरना इससे भी घातक घटना हो सकती है।' डॉक्टर जाने लगा तो मैं उठ खड़ा हुआ और बोला–'डॉक्टर साहब मुझसे गलती हो गई, ये रही आपकी फीस।'

इस बार डॉक्टर ने कहा–'नहीं, मैं इस बार फीस नहीं लूंगा, लोग डॉक्टरों के बारे में पता नहीं क्या–क्या ऊल–जलूल बातें कहते रहते हैं, हम डॉक्टरों का पहला धर्म रोगी की सेवा कर से ठीक करना है, बाकी तो सब जीविका है उसके लिए धनोपार्जन करना पड़ता है, आप ठीक हो गये, मुझे मेरी फीस मिल गई, हाँ अब कभी आया तो पहले फीस और बाद में दवा।' यह कहकर डॉक्टर जोरों से हंसा और चला गया।

डॉक्टर की यह बात मैं आज सात साल गुजर जाने के बाद भी भूला नहीं हूँ और न ही गोली लेना भूला हूँ। बस नियमित रूप से जांच कराता हूँ और दवा लेता हूँ। इस तरह भला चंगा हूँ, लेकिन, मैं शायद वह बात भूल गया कि मैंने अपनी यह कथा किसलिए बताना चाहा था।

समीक्षा

मधुर शास्त्री का 'चाँदनी नहाया सूर्य'

● शेरजंग गर्ग

गीतकार पंडित मधुर शास्त्री हिन्दी कविता अर्थात हिन्दी गीत काव्य के वर्तमान शीर्ष कवियों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वह पिछले पाँच दशकों से इस काम में जुटे हैं और उन्होंने अपनी अनुभूतियों को प्रतिक्रिया स्वरूप या अभिव्यक्ति के रूप में मात्र गीतों में ही व्यक्त किया है। निराल, पंत, बच्चन, नेपाली, नरेन्द्र शर्मा, बलबीर सिंह रंग, वीरेन्द्र मिश्र, देवराज दिनेश, रामावतार त्यागी, रमानाथ अवस्थी की गीति पीढ़ी के बाद के सशक्त गीत–हस्ताक्षरों में उनकी गणना होती है। उन्होंने लिखा भी कम नहीं है। समीक्ष्य संकलन को मिलाकर उनके सात गीत संकलन अब तक प्रकाशित हो चुके हैं–आंधी के पांवों में, तथापि, सम्प्रति, आंसू का वक्तव्य, अनुस्वार एवं तदर्थ। कुछ बड़े नामों यथा बच्चन, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, रामावतार त्यागी को छोड़ दें तो मधुर शास्त्री इस मामले में अपवाद हैं। उनके इतने अधिक संकलनों का प्रकाशन मधुर शास्त्री की निरंतर काव्य साधना का प्रमाण है।

मधुर शास्त्री को मैंने लगभग पैंतालिस वर्ष पूर्व जाना था। उन दिनों मैं बी.ए. का छात्र था और जिन गीतकारों के गीत मुझे प्रिय लगते थे, उनमें मधुर शास्त्री भी एक थे। उनकी कई पंक्तियां अक्सर मुझे द्रवित करती थी–"जीवन में कितने प्रश्न किए, पर उत्तर एक समान मिला"। फिर दिल्ली आने पर उनके अन्य गीतों से परिचय हुआ, जिनकी पंक्तियों ने मुझे बार–बार छुआ। "सचाई की करे चिन्ता, जिसे रोटी न भाती हो" अथवा "गज़ब है मौत पर कोई नहीं मातम मना है।" सचमुच मधुर शास्त्री गीत को समर्पित एक ऐसा नाम है जिसने गीत को जिया है और गीतगंगा में प्रवहमान प्रत्येक रस को मुक्तमना होकर पिया है। अपने प्रारंभिक रचनाकाल में मैंने लिखा था:

> वह चुभन बेकार है
> जो गीत बन गाती नहीं है।

जो कि मेरी प्रेरणा के
स्रोत हैं सब जानते हैं।
आज उन मासूम काँटों को
महक भाती नहीं है।

गीत चुभन से सृजित होता है और "वियोगी होगा पहला कवि" जैसी कालजयी पंक्तियां इस कथ्य को प्रामाणिक भी बनाती हैं। यों तो संपूर्ण काव्य संसार सौंदर्य, पीड़ा, जिज्ञासा, आशा–विश्वास और आनंद तथा प्रश्नवाचकता से भरा–पूरा है, जिसमें व्यक्ति भी है और समाज भी, राष्ट्र भी और संपूर्ण मानवता भी। कवि–गीतकार मधुर शास्त्री अपने गीतों में व्यक्ति का निजत्व तो पिरोते ही हैं, संपूर्ण मानवता के कल्याण के संबंध में सोचकर अपनी भावनाओं और कामनाओं को रेखांकित भी करते हैं।

हाल ही में उनका नया संकलन "चाँदनी नहाया सूर्य" प्रकाशित हुआ है, जिसकी भूमिका डॉ० नामवर सिंह ने लिखी है। नामवरजी कहते हैं–"अपनी आधी सदी की लंबी गीत यात्रा में उन्होंने गीतों की दुनिया का विस्तार ही किया है और ऐसे गीत गाये हैं जिनके केन्द्र में आज के आदमी की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के गद्यात्मक अनुभव हैं जिन्हें प्रायः गीतों में बाँधना संभव नहीं होता।"

गद्यात्मक अनुभवों को पद्यात्मक बनाकर पेश करना मात्र काव्य कौतुक नहीं है, अपितु कविता एवं संवेदना के प्रति आस्था का परिचायक होने के साथ–साथ लयात्मकता और गीतात्मकता के प्रति दृढ़ निष्ठा का द्योतक भी है। मधुर शास्त्री हिन्दी के उन बिरले सशक्त कवियों में अभी भी अपनी पहचान बनाए हुए हैं जो गीतों में आज की बात कहते है, आज के मनुष्य का दर्द कहते हैं और आज के समाज की सकारात्मक और नकारात्मक छवियां प्रस्तुत करते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है–"चाँदनी नहाया सूर्य" मधुर शास्त्री का सातवां संकलन है और इसमें कवि ने इक्यावन गीत दिए हैं। हालांकि उनका पहला गीत "मन की गाँठ लगी रहने दो खोलो नहीं कभी" गांठे न खोलने की बात से शुरू होता है, मगर गांठे वह भी खोलता है, जब कवि आगे कहता है :

दुनियां दुख से दुखती
लेकिन––
सुख भी नहीं पचा
दुनिया की दुमुंही आदत से
कोई नहीं बचा
सुख तो बाँटो
दुख पी जाओ
बोलो नहीं कभी।

उक्त पंक्तियों में कवि दुनिया के दुमुंहेपन को बयान करते हुए भी उसे मात्र सुखी ही नहीं देखना चाहता अपितु सुख बांटने के आह्वान के साथ–साथ खामोशी से दुख पी जाने की बात भी करता है। यही कविता का उदात्त रूप उसे संवेदनाओं का दस्तावेज बनाता है। मधुरजी के अधिकांश गीत मानवीय व्यथा जीवन से लुप्त होती जा रही सहजता, आत्मीयता की याद के गीत हैं। मधुरजी इन गीतों में "समय की आँख" की पुतलियों के दोनों रंग देखते हैं, धूप सी ज़िन्दगी में एक पल आशा और दूसरे पल निराशा की आँख–मिचौनी देखते हैं, महत्वाकांक्षी अंधकार को सलाह देते हैं–स्वयं को खाकर पेट क्यों नहीं भरते? मुक्त क्यों नहीं करते?" वास्तव में मधुर शास्त्री की गीतों में और "चाँदनी नहाया सूर्य" के गीतों में नए विषयों, नई तकनीक, नई शब्दावली का सहारा लेकर नई अभिव्यक्तियां हुई हैं। यह भी संभव है कि शास्त्रीजी इनमें से बहुत से गीतों का पाठ नई कविता की तरह करें, परम्परागत स्वर–ताल के साथ कवि सम्मेलनीय अंदाज में नहीं। गीतों की शैली में निश्चय ही विलक्षण नवीनता है और कहा जा सकता है कि कविता की खासकर गीत की बदली हुई शक्त में आई हुई ये रचनाएं कविता की भीड़ भरी दुनिया में अपनी छाप भी छोड़ेगी और पहचान भी बनाएँगी।

□□□

"चाँदनी नहाया सूर्य" मधुर शास्त्री, राजेश प्रकाशन, अर्जुन नगर, दिल्ली–31, पृष्ठ 112, मूल्य सौ रुपये मात्र।

समीक्षा

आसपास से गुजरती स्त्रियाँ

● नंदिता

पुरुष–वर्चस्ववादी समाज में आज भी स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व कोई मायने नहीं रखता। आज की स्त्री पुरुष के कंधें से कंधा मिलाकर चल रही है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु सही मायनों में पुरुष उसे कहां उतनी स्वतंत्रता और बराबरी दे रहा है? उसे विभिन्न रिश्तों में बंधकर घर–परिवार और उसकी मर्यादा के लिए तरह–तरह के त्याग करने पड़ते हैं और हर तरह से तथाकथित सामाजिक मर्यादाओं में बंधकर रहना पड़ता है।

इस पृष्ठभूमि में आज बहुत कुछ लिखा जा रहा है और स्त्री–अधिकारों को लेकर उनके सजग रहने की बात कही जा रही है। महिला कथाकारों में उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, तसलीमा नसरीन, तहमीना दुर्रानी आदि के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। मैत्रेयी जी के प्रायः सभी उपन्यासों के केन्द्र में स्त्री है। उनके 'अल्मा कबूतरी', 'चाक', 'इदन्नमम' आदि उपन्यासों की कथा स्त्री के ही इर्दगिर्द घूमती है। उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'अन्तर्वंशी' की नायिका भी विदेश में अपना अस्तित्व तलाशती है और तहमीना जी की नायिका भी अपने पति के अत्याचारों की शिकार है। तसलीमा तो मुख्य रूप से स्त्री को ही केन्द्र में रखकर रचना कर रही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज ऐसे अनेक उपन्यास हैं, जिसमें स्त्रियों के त्यागमय जीवन के बावजूद उनके उत्पीड़न और अंतर्द्वंद्व को चित्रित किया गया है।

इसी सिलसिले में युवा लेखिका जयंती के पहले उपन्यास 'आसपास से गुजरते हुए' को भी देखा जा सकता है। जयंती का यह उपन्यास पाठक के मन पर एक तरह से गहरा भावनात्मक प्रभाव छोड़ता है। उपन्यास की नायिका अनु अपने खालीपन और रिक्तता की शिकार होकर अपने आपको बिल्कुल अकेला महसूस करती है। जीवन में एक व्यक्ति अमरीश के आने और फिर उसके अन्य युवती से विवाह कर लेने ने उसे अन्दर तक तोड़ दिया है। इस घटना के बाद पुरुषों से उसका विश्वास उठ जाता है और वह यह महसूस

करती है कि उसके जीवन में अब शायद कोई नहीं आएगा। फिर भी वह पुरुष का प्रेम पाना चाहती है और इसी आकांक्षा के हाथों छली भी जाती है। शेखर के साथ भावनाओं में बहकर वह वहां तक चली गई, जहां से उसकी परेशानियों का लम्बा दौर शुरू होता है। समाज किसी भी रूप में बिन ब्याही मां को स्वीकार नहीं कर पाता। ऐसे में वह एक फैसला लेती है और अंततः एक दिन सीढ़ियों से फिसलने पर उसका गर्भपात हो जाता है।

उपन्यास में रिश्तों के टूटने, उनमें तारतम्य न रहने और सभी लोगों के अपनी तरह जीने की व्यक्तिवादी संस्कृति के दुष्प्रभावों को लेखिका ने गहराई में जाकर रचा है। यहां उसने वर्तमान पूंजीवादी समाज के जीवन–विरोधी चरित्र को रेखांकित किया है। यही नहीं, इस सबके बावजूद लेखिका ने यह भी दिखाया है कि समाज में परंपरागत जीवन–मूल्य अभी भी जीवित हैं और इसी के चलते सभी के मन में एक–दूसरे से कहीं न कहीं लगाव है। यह भी उल्लेखनीय है कि अनु की मां भी अपने पति का प्रेम नहीं पा सकी थी, इसीलिए वह अनु से कहती है कि वह हर हाल में उसके साथ है, पर जो भी निर्णय वह ले, सोच–समझ कर ले। लेकिन अनु जब कोई निर्णय नहीं ले पाती तो उसकी मां भी उसे छोड़कर चली जाती है। अनु के लिए यह एक और बड़ा झटका था। इससे वह बुरी तरह टूट जाती है और एक बार अपने खालीपन और अकेलेपन से लड़ते हुए घर से निकल पड़ती है। लक्ष्य था आदित्य। वह अपने आपसे यह सवाल करती है कि वह क्यों जी रही है और उसके जीने का क्या अर्थ है और आखिर इन्हीं सवालों से उलझती हुई वह पूना जा पहुंचती है।

असल में, हमारे समाज में आज भी ऐसी अनेक लड़कियां है जो बिना शादी किए जीवन बिता रही हैं। वे अपने कामों में इतनी व्यस्त रहती हैं कि उन्हें वक्त का पता ही नहीं चलता। परन्तु एक वक्त ऐसा भी आता है जब उन्हें उनका खालीपन काटने को दौड़ता है। ऐसे में वे सोचती हैं कि काश, उनके जीवन में भी कोई होता जो उनके खालीपन को भर सकता। संक्षेप में कहा जाए तो अनु के रूप में जयंती ने आज के मध्यवर्गीय स्त्री–जीवन और उसकी ज़द्दोज़हद का अत्यंत प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रण किया है।

लेखिका की भाषा और उसके शिल्प में एक प्रकार की सादगी और आत्मीयता है। उसमें कोई आडंबर नहीं है। आज के औपन्यासिक परिवेश में यह उपन्यास इसलिए भी अलग दिखाई पड़ता है। इसके शिल्प की यही सहजता पाठक को कथा के साथ–साथ चलने का संबल प्रदान करती है। उपन्यास के पात्र उसके लिए सहज ही आत्मीय और नज़दीकी हो जाते हैं। कहना न होगा कि इस उपन्यास का स्त्री–यथार्थ आज के स्त्री–विमर्श से थोड़ा अलग होकर भी उसके समय को ही चित्रित करता है। यही कारण है कि इसके अनेक पात्र पाठक के मन में लंबे समय तक अपनी पहचान बनाये रखने की सामर्थ्य रखते हैं।

□□□

'आसपास से गुज़रते हुए' (उपन्यास)/ले. जयंती/प्रका. राजकमल प्रकाशन, पेपरबैक संस्करण/ मूल्य : पचास रुपये।

समीक्षा

रोमानिया के कविवर ऐमेनेस्कू की कृति दिव्यग्रह

• डॉ० कैलाशचंद्र भाटिया

यूरोप के देश रोमानिया के राष्ट्रकवि मिहाई ऐमेनेस्को के खंडकाव्य *'लुच्चा फेरूल'* हिंदी में काव्यानुवाद के रूप में 'दिव्यग्रह' शीर्षक से डॉ० तिवारी के सत्प्रयासों से प्रस्तुत हुआ है। अनुवाद की प्रक्रिया परकाया-प्रवेश के तुल्य है, फिर काव्य का अनुवाद और वह भी काव्य में प्रस्तुत करना जटिल है। संयोग से कविहृदय प्रो० यतीन्द्र रोमानिया में विजिटिंग प्रोफ़ेसर के रूप में कार्यरत थे, फलतः इस ओर आकर्षित हुए और इस कृति के काव्यानुवाद में जुट गए। इसके पूर्व रोमानिया में हिंदी पढ़ाने गए व्यक्तियों प्रो० सूरजभान सिंह और प्रो० महावीर सरन जैन से संयोग से निकट के संबंध रहे हैं, पर यह श्रेय तो प्रो० तिवारी को ही प्राप्त होना था।

इस कृति का अनुवाद इससे पूर्व 52 भाषाओं में हो चुका है, अतएव हिंदी काव्यानुवाद से हिंदी भाषाभाषी भी अब इस विश्वप्रसिद्ध कृति से परिचित हो सकेंगे। "प्रेम जीवन का सत्य है। ... सृष्टि के प्रारंभ से इस प्रेम की चर्चा होती आयी है। यही इसका परमात्म है और यही अक्षय रूप है। कवि श्री मिहाई ऐमेनेस्कू के इस काव्य में प्रेम के विवेचन में पाश्चात्य चिंतन के प्रभाव के साथ-साथ भारतीय चिंतन का गहरा प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।" (प्रस्थान बिन्दु) प्रो० तिवारी की इन पंक्तियों से कवि का महत्त्व स्वतः उद्घाटित होता है।

रोमानियन कविता पर बातचीत करते हुए डॉ० तिवारी ने श्रीमती कविता वाचक्नवी के प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट शब्दों में किया "रूढ़ियों और व्यर्थ के नैतिक बंधनों से कुंठित होते मनुष्य के मन को उन्मुक्त आयाम देने के प्रयत्न किये गए, प्रेम को जीवन की सर्वप्रथम उपलब्धि और महत्ता के रूप में स्थापित किया गया; इतना ही नहीं पार्थिव और अपार्थिव प्रेम

के मध्य एक विभाजक रेखा सुनिश्चित करने के प्रयत्न भी हुए। 'लुच्चा फेरूल' खंडकाव्य में प्रकृति और मनुष्य के अटूट रिश्ते को रेखांकित किया गया।"

(गोलकोण्डा दर्पण, जनवरी 2002, पृ० 20)

काव्यानुवाद 'दिव्यग्रह' से कुछ पंक्तियाँ इस तथ्य को उद्घाटित करती हैं–

ओ! स्वच्छ गगन के दिव्यग्रह कुमार
नीचे उतरो, कर दो जीवन में ज्योति–प्रसार।
ओ! मेरी अभिलाषाओं के स्वामी कर प्रवेश मन में
अपने मधुर प्रकाश से मेरा जीवन दो संवार।
उसके प्रेम भरे शब्दों के संवेदन में
वह भय–मोह से काँप रहा था।
होकर उद्दीप्त अपने ही प्रकाश में
खुद को, सागर में पुच्छलतारे–सा डुबा रहा था।

देखिए, कल्पना कितनी विराट् है–

सम्मुख हो, उसके वह बोला मन्द्रित स्वर में
विश्व छोड़कर मैं आया, मात्र तुम्हारे आवाहन में।
दुष्कर था आना, फिर भी मैं आया
इतना परिचय है, आकाश पिता औ समुद्र माता।

आगे वह कहता है–

ओ प्रिये! तुम अतुल सौंदर्य की रानी हो
मैं तुम्हारा दिव्यग्रह! तुम मेरी चिरसंगिनी हो।
अपना संसार छोड़ निकट मेरे हो जाओ,
कर विवाह मुझसे, वधू मेरी बन जाओ।

इस पर वह उत्तर देती है –

ओ मेरे प्रियतम! मेरी अभिलाषाओं के स्वामी,
ओ दिव्यग्रह! किरणों पर चढ़ नीचे आओ।
कर प्रवेश राजमहल में मेरे तन–मन में
मेरा जीवन आलोकित कर जाओ।

यही विराटता आद्यंत चलती है–

समस्त सितारों का सुंदर राजमुकुट होगा
जगमग भव्य आकाश तुम्हारा राजमहल होगा।

विशेषता यह है, साथ–साथ मूल कृति भी दे दी गई है। जो शब्द/नाम अनुदित नहीं हुए है, उनको नागरी में लिप्यंतरित कर दिया गया है।

Catalin = कटलीन

Hyperion = हिपेरिओन

इस प्रकार यह कृति विश्व के सुदूर स्थित दो देशों के मध्य सेतुरूप में सिद्ध होगी। स्थान–स्थान पर छायावादी कवि प्रसाद के काव्य से तुलना भी है।

इस लघु कृति में पाठक काव्य के साथ डॉ० तिवारी के ललित गद्य का आनंद भी लेंगे। खंडकाव्य के अंत में प्रो० तिवारी के कई उपयोगी आलेख हैं–

– रोमानिया के राष्ट्रीय कवि – मिहाई ऐमेनेस्कू

– यूरोप प्रवास के दो वर्ष – वस्तुतः ललित शैली में लिखा हुआ '*यात्रावृत्त*' है।

पुस्तक से कई नई रचनाएं भी प्राप्त होती हैं ।

□□□

'लुच्वा फेरूल–दिव्यग्रह' (कवि : मिहाई ऐमेनेस्कू), काव्यानुवाद : डॉ० यतीन्द्र तिवारी, प्रथम संस्करण सन् 2001, मूल्य : सौ रुपये, पृष्ठ सं. 821 ।

समीक्षा

युग संधि के प्रतिमान

● सुरेन्द्र तिवारी

भारतीय साहित्य को जिन लोगों ने एक नई दिशा दी, एक नये युग का निर्माण किया, ऐसे रचनाकारों के बारे में जानने की उत्सुकता जहां साधारण पाठकों में होती है, वहीं एक जिज्ञासु लेखक आलोचक भी उनके माध्यम से, उनके रचना–संसार के भीतर पैठकर समकालीन रचना–संसार एवं रचना–कर्म को समझने परखने की कोशिश करता है डा० रणजीत साहा ने भी एक ऐसी ही कोशिश अपनी कृति 'युग–संधि के प्रतिमान' में की है। साहा ने बांगला और हिन्दी के तेईस रचनाकारों के माध्यम से समकालीन साहित्य की सोच और सच्चाइयों की खोज की है, सामाजाकि सरोकारों को पहचानने का प्रयास किया है।

पुस्तक की शुरूआत रवीन्द्रनाथ ठाकुर से हुई है। बीसवीं शदी के उस महान भारतीय साहित्यकार की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए साहा कहते हैं–'रविन्द्रनाथ ने प्राच्य और प्रतीच्य–पूर्व एवं पश्चिम के परिचित द्वंद्व और दुराव को पाटने का प्रयत्न किया था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम सूर्यास्त और बीसवीं सदी के प्रथम सूर्योदय साक्ष्म से रवीन्द्रनाथ ने शताब्दी संक्रमण की बेला में अपनी मातृभाषा बांगला द्वारा भारतीय साहित्य में एक नवीन भावबोध और आलोक का संधान किया था और कुछ वर्षों बाद ही 'गीतांजलि' के लिए नोवेल पुरस्कार द्वारा जिनकी कृति–संस्कृति की गई। "रवीन्द्रनाथ की महत्ता को दर्शाते हुए साहा आगे कहते हैं–'रवीन्द्रनाथ पहले ऐसे भारतीय लेखक थे जिन्होंने उच्चभ्रू अभिजात वर्ग के संस्कारों के साथ समाज के निम्नास्तर पर रहने वाले लोगों की जीवन दृष्टि को एक समान महत्व देते हुए अपनी रचनाओं में अंकित किया।" साहा ने संक्षेप में रवीन्द्रनाथ के कृतित्व और व्यक्तित्व को रेखांकित किया है जिसको पढ़कर यह कहा जा सकता है कि *निश्चित रूप से रवीन्द्रनाथ युग–संधि के प्रथम प्रतिमान* रहे हैं और उनको सामने रखकर ही बीसवीं सदी की रचना–यात्रा का आकलन किया जा सकता है।

बांगला साहित्य के जो अन्य यशस्वी हस्ताक्षर यहां संकलित हैं वे हैं—शरतचन्द्र, कामिनी राम, विष्णु दे, प्रेमेन्द्र मित्र, आशापूर्णा देवी, समरेश बसु 'कालकुट', सुभाष मुखोयाध्याय, विमल मित्र और काजी नजरूल इस्लाम। साथ ही सत्यजित राय और उत्पल दत्र के योगदान को विशेष रूप से जोड़ा गया है। हालांकि इन दोनों की ख्याति फिल्मकार और नाटककार के रूप में ज्यादा रही किन्तु इनके साहित्यिक महत्व को भी नकारा नहीं जा सकता। सत्यजित राय किशोर कथा—साहित्य के अप्रतिम लेखक थे तो उत्पन्न दत्र की कई नाट्य—रचनाएं आज भी अग्रगष्य हैं।

शरतचन्द्र के जीवन और कृतियों की चर्चा करते हुए साहा ने उनके बचपन के निवास—स्थान भागलपुर की चर्चा की है जो बहुत ही मार्मिक है। शरतचन्द्र का पुश्तैनी घर आज भी भागलपुर में विद्यमान है किन्तु साहा ने व्यथापूर्ण शब्दों में उल्लेख किया है कि शरत के इस पुश्तैनी घर को एक सज्जन ने खरीद लिया है और सीमेंट, बालू, ईंट की ढेर से यही जान पड़ता है कि अब यह ऐतिहासिक मकान जल्द ढहा दिया जायेगा और यहां एक नया मकान बन जायेगा। "संभवतः अब तक बन भी गया होगा क्योंकि साहा ने कई वर्षों पहले यह बात लिखी थी। भागलपुर को हर उस कोने और क्षणों का चित्रण साहा ने इस लेख में किया है जिनसे शरतचन्द्र का संबंध रहा था।

आधुनिक काल की श्रेष्ठ बांगला लेखिका आशापूर्ण देवी पर पुस्तक में दो संस्मरण लेख हैं। 'हथेली पर घूमती दुनिया' में जहां उनका व्यक्तिगत—पारिवारिक और सामाजिक जीवन है, 'गाथात्रर्य में शताब्दी संक्रमण' में उनके सृजन—कर्म का अवलोकन विश्लेषण है। उनकी गाथात्रयी 'प्रथम प्रतिश्रुति', 'सुवर्णलता' और 'बकुल कथा' ने उन्हें न केवल अश्रुतमूर्त सम्मान प्रदान किया बल्कि सर्वभारतीय पाठकमंत्र भी दिया। सन् 1976 में प्रथम, प्रतिश्रुति को भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचना के नाते 'भारतीय ज्ञानपीठ' के पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया। साहा ने विस्तार से इन तीनों उपन्यासों का विश्लेषण अपने लेख में किया है।

विष्णु दे का सम्मान आज भी भारतीय साहित्य में कम नहीं हुआ है। साहा कहते हैं कि 'अपेन सरोकारों' के प्रति चौकस लेकिन अपने इर्द—गिर्द चलने वाले छोटे—बड़े साहित्यिक आंदोलनों एवं राजनैतिक धड़ों से अलग विष्णु दे की काव्य चेतना भूमि और भूमा को समर्पित रही। वे सामाजिक शोषण, अन्याय, वर्ग—विभाजन, वैसम्य आदि पर जहां करारा प्रहार करते हैं वहां काव्य की मर्यादाओं का भी बराबर ख्याल रखते हैं। उसे वे नारेबाजी और पार्टी का हलफनामा नहीं बनाते। हालांकि यह भी सच है कि आधुनिक बांगला काव्य में अपने उत्कृष्ट योगदान के लिए विष्णु दे जितने सराहे जाते हैं, काक प्रयोग की दृष्टि से उतने ही कठिन भी समझे जाते हैं!' साहा ने विस्तार से उनके कठिन होने के कारणों की खोज की है।

चूंकि साहा बांगला भाषा पर भी अधिकार रखते हैं, इस कारण बंगाली रचनाकारों पर लिखे उनके लेखों में बांगला कविताओं का रसास्वादन हम कर पाते हैं। प्रायः सभी कवियों

की कुछ उत्कृष्ट कविताओं का उद्धरण वे बार–बार देते हैं, कहीं मूलरूप में तो कहीं उनके अनुवाद।

चाहे कामी नजझल इस्लाम हों, विष्णु दे हों या सुभाष मुखोपाध्याय या हिन्दी के मैथिलीशरण गुप्त हों, रामनरेश त्रिपाठी, अज्ञेय, नागार्जुन एवं निदकर हों, एक बात सब पर समान रूप से लागू होती है कि 'कविता का संसार, संस्कार या अनुभव से ही नहीं कवि के समग्र जीवन दान से समृद्ध और यशस्वी होता है। कविता उस अमृतबेल के समान है जो कवि के हृदय कोष में संचित समग्र रक्त को पीकर जीवित रहती है। हिन्दी–बांगला के इन कवियों की काव्यधार्मिता और कविता की चर्चा करते हुए साहा ने इस तथ्य को सदैव ध्यान में रखा है और तदनुरूप समीक्षा की है। यह सच है कि इनमें से कई रचनाकारों के साथ साहा के निकट के संपर्क–संबंध रहे हैं, 'परन्तु किसी की काव्य प्रतिभा को समझने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उसके लिए गहन अध्ययन और मनन की आवश्यकता पड़ती है और साहा ने इसमें कोताही की है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। काव्य रचनाओं की चर्चा करते हुए जिस तरह वे ढेरों कविताओं का उल्लेख करते हैं, उनके भर्म तक पहुंचते हैं, वह उनके विश्लेषण को सार्थकता प्रदान करता है।

हिन्दी के जिन विशिष्ट कवियों की सृजनात्मकता की चर्चा साहा ने इस कृति में की है उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके साथ ही साहा ने राहुल सांकृत्मायन, प्रभाकर मायवे, अमृत राय, देवेन्द्र सत्मार्थी और रामविलास शर्मा पर भी लिखा है परन्तु साहा ने इन लोगों के कृतित्व से अधिक इनके व्यक्तित्व को उभारा है। विशेष रूप से प्रभाकर मायवे, देवेन्द्र सत्मार्थी और रामविलास शर्मा पर लिखे गए संस्मरण काफी आत्मीय हैं और व्यक्तिगत भी। इन लोगों के जीवन से संबंधित अनेक ऐसी घटनाओं का यहां उल्लेख हैं जो उन्हें एक अलग रूप में हमारे समझ खड़ा कर देता है। जैसे प्रभाकर मायवे का 'भारतीय भाषा परिषद' का निदेशक होते हुए भी अतिथियों के लिए स्वयं चाय–पानी लाना, उनके बिस्तर ठीक करना आदि। इसी तरह रामविलास शर्मा पर लिखा गया लेख भी काफी वित्री संस्मरणों से युक्त है।

इस पुस्तक में सिर्फ एक साक्षात्कार है अज्ञेय से! संभवतः अज्ञेय पर साहा ने कोई निबंधादि नहीं लिखे होंगे और 'प्रतिमानों' की चर्चा करते हुए उन्हें छोड़ना भी नहीं चाहते होंगे, इस कारण उपलब्ध साक्षात्मका को सम्मिलित कर लिया है। वैसे अज्ञेय के विचारों को, उनकी रचना–भूमि को, उनके संस्कारों को समझने में यह साक्षात्कार विशेष सहायक है। उदाहरणार्थ, एक जगह अज्ञेय कहते हैं–"मैं तो संस्कारगन हूँ और मैं लिखता हूँ जिस पाठक के लिए चाहता हूँ कि वह भी संस्कारणन हो। इसको अगर आप अभियोग या आरोप कहते हैं तो ये मुझे स्वीकार है। कोई भी संस्कार रहित साहित्याकार रहित प्राणी हो सकता है लेकिन संस्कार रहित न लिखने वाला होता है न पढ़नेवाला।"

इस तरह के निबंधों या संस्मरणों को पढ़ते हुए एक तथ्य की ओर ध्यान बार–बार जाता है कि लेखक में तटस्थता कितनी है? आत्मयता, निकटता को वह किस रंग में परोसता है? साहा के इन निबंधों में मिश्रित रंग हैं। रवीन्द्रनाथ, दिनकर, विमल मित्र, कामिनी राय, उत्पल दत्त आदि के बारे में लिखते हुए लेखक ज्यादा तटस्थ दीखता है क्योंकि इनसे उसका कोई रागात्मक संबंध नहीं है, परन्तु आशापूर्णा देवी, प्रभाकर मायवे, रामविलास शर्मा के प्रति वह काफी भावनात्मक हो उठता है, कई जगह निजी संबंधों की चर्चा ही प्रमुखता पा लेती है। मैं यह नहीं कहता कि तटस्थल एक आत्मांतिक विशेषता है अपितु निजता भावनात्मक हो ही जाती है और ऐसे में तटस्य व्यक्ति भी भावुक हो उठता है। प्रसंगतः यदि साहा भी भावुकता अपनाते हैं तो इसे उनका दोष न मानकर परिस्थिति की मांग या मानव–वृत्रि कह सकते हैं।

'युग संधि के प्रतिमान' के माध्यम से साहा ने ऐसे कई लोगों को हमारे समक्ष रखा है जिनके बारे में हमारी जानकारी अधिकांशतः अधूरी है, विशेष रूप से बंगाली लेखकों के संदर्भ में। इस कारण यह पुस्तक सिर्फ प्रशंसनीय ही नहीं, पठनीय भी है।

□□□

रचनाकार

अरविंद कुमार
सी–18 चंद्र नगर,
गाज़ियाबाद 201011

डॉ० नरेन्द्र मोहन
239–डी, एम०आई०जी० फलैट्स
राजौरी गार्डन,
नई दिल्ली–110027

शतदल
बी–16 डाकतार कौलोनी,
नेफिर रोड, कानपुर
छावनी–208004

डॉ. विजय अग्रवाल
ई 5/77, अरेरा कॉलोनी
भोपाल- 462016 (म.प्र.)

प्रमोद त्रिवेदी
मन्वन्तर, 205 सेठी नगर
उज्जैन–456010

प्रभाकर श्रोत्रिय
275 नर्मदा अपार्टमेंटस
अलकनन्दा,
नई दिल्ली–110019

डा० मोतीलाल जोतवाणी
बी-14, दयानंद कालोनी
लाजपत नगर,
नई दिल्ली-110024

ज्ञानप्रकाश विवेक
9/508, पुराने सिविल अस्पताल के पास
किला मोहल्ला
बहादुरगढ़-124507 (हरियाणा)

निर्मला सिंह
185 ए, सिविल लाइन्स,
बरेली–243001

जसविंदर शर्मा
5/2 डी, रेल विहार,
मनसा देवी कम्पलैक्स
पचकुला–134109
(हरियाणा)

अनूप श्रीवास्तव
10, गुलिस्तां कालोनी
लखनऊ

राजेश विद्रोही
230, बिहाना पार्क
लखनऊ-4

प्रभात शंकर
E-1/2, पीरपुरहाउस
डालीबाग, लखनऊ-226001

प्रो. नन्दलाल पाठक
12, अमिताभ,
124, माडल टाउन,
जे.पी.रोड, अन्धेरी (प.),
बम्बई–400058

राजेन्द्र तिवारी
तपोवन, 38-बी गोबिन्द नगर,
कानपुर–208006

अनिरूद्ध सिन्हा
गुज्ज़ार पोखर,
मुंगेर - 811201 (बिहार)

माधव कौशिक
3277/45 डी
चण्डीगढ़–160047

श्रीकान्त जोशी
जवाहरगंज खण्डवा
मध्य प्रदेश–450001

राजनारायण बिसारिया
6489/B-9 बसंतकुंज
नयी दिल्ली–110070

अशोक गुप्ता
बी–11/45 सैक्टर-18
रोहिणी, दिल्ली–110085

रोहिताश्व
हिन्दी विभाग
गोवा विश्वविधालय
गोवा म. 3206

बलराम
53 सी, ऊना एन्क्लेव,
मयूर विहार, फेज-I
दिल्ली–110091

विजय विद्रोही
(स्वतंत्र पत्रकार)
251/2 सराय पीपल थला
आदर्श नगर
दिल्ली – 110033

सुबोध कुमार श्रीवास्तव
अशोक कॉलोनी, कटनी
मध्य प्रदेश-483501

पूरन सरमा
124/61-62 अग्रवाल फार्म,
मानसरोवर,
जयपुर-302020 (राज.)

सुशान्त सुप्रिय
इंटरप्रेटर : लोक सभा
148, संसद भवन,
नई दिल्ली–110001

शेरजंग गर्ग
जी–261-ए, सेक्टर–22
नोएडा–201301

नंदिता
सी-3/59 नागार्जुन नगर,
सादतपुर विस्तार,
दिल्ली-110094

डा० कैलाशचंद्र भाटिया
नंदन, भारती नगर,
मैरिस रोड,
अलीगढ़ - 202001

सुरेन्द्र तिवारी
बी–3/76, सैक्टर–16,
रोहिणी, नई दिल्ली–110085

केशव कालीधर
65, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद–2

उमेश अग्निहोत्री
7881 Wintercress LA
Springfield, VA-22152, USA